

सहजानंद शास्त्रमाला

षोडश भावना प्रवचन

भाग-2

रचयिता

अद्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास
गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001



श्री वर्णो साहित्य मन्दिर पुस्तक —२

बोड्श भावना प्रवचन

द्वितीय भाग

—००—

प्रवक्ता —

अध्यात्मघोषी न्यायतीर्थ पूर्ण श्री १०५ श्रुत मनोहर जी वर्णो
‘सहजानन्द’ महाराज

४०५५०००

प्रकाशक —

जयन्तीप्रसाद जैन, रिटायर्ड हेड कैशियर स्टेट बैंक
मंत्री, श्री वर्णो साहित्य मन्दिर,
सेवाकली, इटावा (उ० प्र०)

अधम संस्करण
१०००]

फरवरी
१९६६

[न्यौषावर
एक लखपति

प्रकाशकोय

मिथ्य पाठकवृन्द ! बड़ी प्रसन्नताका विषय है कि आपके करकमलोंमें षोडश भावना प्रवचनका द्वितीय भाग प्रस्तुत करनेका सौभाग्य शीघ्र मिला है। इटावामें सन् १९६४ के चातुर्मासिके भाद्रपद मासमें पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द जी' महाराजके षोडश कारण भावनापर प्रवचन हुये थे। जिसमें दर्शनविशुद्धि भावनापर जो प्रवचन हुये थे वे प्रथम भागमें प्रकाशित हो चुके हैं। अब इस द्वितीय भागमें विनय सम्पन्नता, शीलत्रानतिचार, अभीक्षण ज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्तयाग, शक्तिस्तप, साधुसमाधि, वैयाख्यकरण, अहंदूभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यकापरिहासि, मार्गप्रभावना, प्रवचनवात्सल्य, इन १५ भावनाओंपर जो प्रवचन हुये थे, वे प्रकाशित किये गये हैं।

ये प्रवचन अध्यात्मशैली की पद्धतिसे किये गये हैं। इस कारण इन प्रवचनोंकी वाचना आध्यात्मिक युक्ति सहित करने से विशेष आनन्द और लाभ प्राप्त होता है। इसकी नवीनता और आनन्दकी अनुभूति पाठकवृन्द स्वयं अनुभव कर लेंगे। अतः इस विषयमें हम लिखना आवश्यक नहीं समझते हैं।

हमारा यह सुभाव है कि षोडशकारण पर्वके दिनोंमें यदि षोडशभावना प्रवचनकी वाचना की जाये तो इससे श्रोतागणोंको भी अपूर्व आनन्द प्राप्त होगा तथा षोडशभावनाओंका महत्व विदित होने से षोडशकारण भावना भानेकी प्रेरणा मिलेगी।

षोडशकारण भावना भानेसे तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध होता है, जो स्वपर कल्याण करते हुये निश्चय मोक्षप्रदाता है। इनमें दर्शनविशुद्धि भावना अनिवार्य और प्रधान है। सम्यक्त्वके साथ जगत्के जीवोंके उद्धरण की इसमें भावना होती है। इस उपयोगिताके कारण पूज्य वर्णजी ने बहुत विस्तृत प्रवचन किये थे तथा अन्य भावनाओंपर भी विशेषतया प्रवचन किये थे। दोनों भागोंके ये प्रवचन आद्योपान्त पढ़नेके योग्य हैं। अतएव पाठकोंको हमारा यह सुभाव है कि वे भावनाके नियत दिनोंमें उस भावनाका प्रवचन अदूरा छोड़कर आगे पढ़नेका प्रयत्न न करके क्रमशः ही सब प्रवचनों को धैर्य और शान्तिके साथ पढ़ें।

यदि हमारे प्रकाशनसे पाठक बन्धु लाभान्वित हुये तो इसमें हम अपने अमको सफल समझेंगे।

प्रकाशक—
मंत्री— जयन्तीप्रसाद जैन

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णा “सहजानन्द” महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आत्मराम ॥१॥

[१]

मैं वह हूँ जो हैं भगवान् , जो मैं हूँ वह हैं भगवान् ।
अन्तर यही ऊपरी जान , वे विराग यहूँ राग वितान ॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान , अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आद्वश खोया ज्ञान , बना भिखारी निपट अजान ॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन , मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान , फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम , विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग स्यागि पहुँचूँ निजधाम , आकुलताका फिर क्या काम ॥

[५]

होता स्वयं जगत परिणाम , मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम , ‘सहजानन्द’ तह अभिराम ॥

—; o ;—

पोडशभावना प्रदर्शन द्वितीय भाग

२-विनय सम्पन्नता

नीर्थङ्कर प्रकृतिके बन्धके कारणोंमें द्वितीय भावना विनय-सम्पन्नता है। विनयसे ओत-प्रोत रहना, समृद्धिशाली रहना इसका नाम विनय-सम्पन्नता है। यह मोक्षमार्गका प्रकरण है। इस कारण प्रत्येक स्थलके विनयको विनयसंपन्नता नहीं कहा गया है, किन्तु मोक्षमार्गके प्रसंगमें जिनका सबंध है ऐसे भावों और धर्मात्माजनोंके विनयसे प्रयोजन है। विनय ५ प्रकारका कहा गया है—दर्शन-विनय, ज्ञान-विनय, चारित्र-विनय, तप-विनय और उपचार-विनय। विनय ४ प्रकारका भी कहा है—ज्ञान-विनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय।

दर्शन विनय— सम्यक् श्रद्धानमें विनय होना सो दर्शनविनय है। संसारमें रुलने वाले जीवोंको एक सम्यक्त्वका ही सहारा है। सम्यक्त्वके बिना संकटोंसे मुक्ति पानेका अन्य कोई उपाय नहीं है। भला बतलावों कि सर्वपदार्थ जब अपने ही स्वरूपमय हैं और अपना स्वरूप है ज्ञान और आनन्द, तो ज्ञानानन्दस्वरूपी अपने आत्माको इतने संकट जो लग गये हैं, यह क्या आश्चर्यकी बात नहीं है? यह सब भ्रमका ही प्रसाद है। कुछ नहीं बनाना है अपनेको। बनी हुई है, सत्तासे बनी हुई है। स्वभावनिर्वृत्त है, किन्तु भ्रम करके जो विपदा विड़ बना बना ली है उनको तो दूर करे बिना काम न सरेगा। जहां सम्यक्त्व हो जाता है, शुद्ध आशय बन जाता है, यथार्थ दर्शन हो जाता है, यह मैं ज्ञानानन्द स्वभावमात्र हूं, मैं अपनी सत्तासे अपने आपमें स्वयं बैसा हूं, इस बातका जिन्हें दर्शन हो जाता है ऐसे पुरुषोंको यह बात ध्यानमें आती है— अहो, सम्यगदर्शन ही हमारा शरण है। इस सम्यक्त्वके बिना अनादिकालसे अब तक कुयोनियोंमें अमण करते हुए चले आये हैं। यों सम्यक्त्वके प्रति विनय जगना यह है दर्शनविनय।

दर्शनविनयका परिकर— विनय भी एक भाव है, और जिसके प्रति विनय किया जा रहा है वह भी एक भाव है। दर्शनधारी सम्यगदृष्टि जीवों का विनय करना भी इस दर्शनविनयमें सम्मिलित है, पर मोक्षमार्गके प्रकरणमें प्रमुखतासे भावोंका विनय भावोंसे किया जाय, इसका विशेष प्रयोजन है, ऐसे सम्यक्त्वके प्रति विनयका परिणाम रखने वाले पुरुष व्यवहारमें अर्थात् जब अन्य जीवोंके प्रति कुछ व्यवहार करते हैं तो वहां

सम्यग्दृष्टि पुरुषमें विनयभाव जगता है। अहा, ये भी मोक्षपथके पथिक हैं। एक ही रास्तेमें जाने वाले पथिकोंसे कैसी प्रीति हो जाती है? आप भिण्ड जा रहे हों पैदल, और पैदल ही भिण्ड जाने वाले दो एक मुसाफिर और मिल जायें तो उस समय आप अपने कुदुम्बकी तरह उनसे व्यवहार करते हैं। यों ही मोक्षमार्गके प्रयोजक पुरुषोंको मोक्षमार्गके पथिक मिल जायें तो उनको वह कितनी प्रीति करता है? दर्शनविनयमें सम्यक्त्वका विनय होना और सम्यग्दृष्टि पुरुषका विनय होना, सो दर्शनविनय बताया है। अपने सम्यक्त्वमें कोई दोष न लगे। शंका, वाढ़छा आदिक जो २५ दोष बताये गए हैं वे दोष न लग सकें, ऐसी अपने ज्ञानकी सावधानी बनाना, उपयोगको सावधान रखना यह भी दर्शनविनय है।

आत्मदर्शनका महत्व — ऐसे दर्शनविनयमें लगे हुए पुरुष जब संसार के जीवोंपर एक हृष्टि करते हैं, उनका सिंहावलोकन करते हैं तो एक परम करुणा उत्पन्न होती है। अहो, ये सब स्वतः ज्ञानानन्दके निधान हैं। एक उपयोगकी निजसे पराङ् मुख्यता हो गयी है, इसमें यह कितना अन्तर आ गया है, ज्ञानानन्दका ही अनुभवन करें, ऐसा इसका स्वयं स्वभाव है, एवं कितनी विपरीतता आ गई है और यह विपरीतता केवल अपने स्वभावपराङ् मुख उपयोगको करनेसे आ गयी है, अन्य किसी पदार्थसे नहीं आई। जो इतनी विश्वाता मान ली जाय कि क्या करें, यह दूसरा इसे छठने ही नहीं देता है। हालांकि जब यह जीव गिरता है, विभावोंमें लगता है तो किसी न किसी परउपाधिका निमित्त पाकर ही लग सकता है। पर-उपाधि पाये विना जीव विभावमय बने, इतने पर भी जीव अपने परिणमनसे अपनी भूलसे विभावरूप बनते हैं, परके परिणमनसे नहीं। अहो, यह प्राणी अपने उपयोगको निजस्वभावसे पराङ् मुख किए हैं। इतने मात्र अपराधसे इतना बड़ा अन्तर आया है कि वृक्षोंके कीड़ोंके कितने प्रकार हैं? जलचरोंमें, पशुपक्षियोंमें कैसी-कैसी अवगाहना है? इस जीवको जब अपने आप की हृष्टि जगे और यह संकटोंसे मुक्त हो, ऐसी परमकरुणा होती है तब इस निजस्वपन्न पुरुषके तीर्थकर प्रकृतिका बंध होता है।

ज्ञानविनय — दूसरा विनय है ज्ञानविवद। सम्यग्ज्ञानकी आराधना में प्रयत्न करना, ज्ञानमें आस्था रखना। इस ज्ञानके प्रतापसे ही सम्मिलता है, अशांतिसे हटकर शांतिमें स्थिति बनती है, ऐसा जानकर सम्यग्ज्ञानकी उपासनामें पुरुषार्थ करना, सम्बद्धज्ञानकी कथनीमें, चर्चामें आदर करना, सम्यग्ज्ञानके कारणभूत जो ज्ञिनशास्त्र हैं उनमें आदर भाव रखना, जिनवाणीमें निःशंक श्रद्धा बनाना, ये सब ज्ञानके साधन हैं। ये ही

हमें मार्ग बताने वाले हैं, ये सूर्यकी तरह पथप्रदर्शक हैं। ऐसे सम्यग्ज्ञान के प्रति विनय जगना यह है ज्ञानविनय तथा ऐसे ज्ञानी संत पुरुषोंके गुणों के कथनमें उत्साहित होना, वहां बंदन, स्तवन, आदर करना, सो भी ज्ञान विनय है। ज्ञानी पुरुषोंके उत्तम शास्त्र, कल्याणकारक वस्तुजिनागम सूत्र, यदि ये ग्रन्थ कहीं प्राप्त हो जायें, मिल जायें तो उनके समागममें बड़े हर्ष विभोर होंगे। जैसे राजचन्द्रजीवे जीवनकी घटनामें लिखा है कि जिस समय उनकी दूकानपर कोई पुरुष समयसार घन्थ लेकर पहुंचा और समयसारका थोड़ा बाचन किया तो उससे प्रफुल्लित होकर अपनी दूकानमें जो कुछ हीरे, जबाहरत रखे हुए थे अथवा रूपये रखे हुए थे उनको खोवामें उठाकर दे दिये। यह क्या था? यह ज्ञानविनयका रूप था। जिस शास्त्र से हमको ज्ञान प्राप्त होता है उस ग्रन्थके प्रति भी आदर जगना यह भी ज्ञानविनय है। मंदिरमें अथवा शास्त्रोंकी संस्थावांमें जो उनका संग्रह होता है उन्हें संभाल कर रखना है। इसमें भी तो ज्ञानविनय कारण है। ज्ञानके साधनोंकी रक्षा बनाना यह भी ज्ञानविनयका अंग है। उन शास्त्रोंका अनुवाद करना, लेखन करना, अर्थविवरण करना, प्रकाशमें लेना यह उससे भी अधिक ज्ञानविनयकी बात है। ऐसा ज्ञानविनयसम्पन्न अन्तरात्मा दर्शनविशुद्धिके प्रनापसे तीर्थकर प्रकृतिका बंध करता है।

चारित्रविनय-- तीसरा विनय है चारित्रविनय। अपनी शक्ति प्रमाण चारित्रको धारण करना, चारित्रमें हर्ष करना, प्रतिदिन चारित्रकी उज्ज्वलता करनेमें पुरुषार्थ करना, विषयकवायोंको घटवाना यह सब चारित्रविनय है। विनय करने वाला भी भाव है और जिसकी विनय की जा रही है वह भी एक भाव है। शुद्धभावोंमें सद्भावोंका मिलन होना, यह भी एक अपूर्व आकर्षक वातावरण होता है। जो चारित्रको धारण करने वाले पुरुष हैं उनके गुणोंमें अनुराग होना, उनको स्तवन बंदन करना यह भी चारित्रविनय है।

विनयसम्पन्नताका प्रभाव— जिस जीवका संसारके संकटोंसे छुटने का भाव बना है वह अपनी चुनका ही कार्य करेगा। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र इनका एकत्व ही मोक्षमार्ग है, यह ही मोक्षमार्ग है, ऐसा जिसके अद्वान है, धुन बनी है उन पुरुषोंका सर्वस्व न्यौछावर कर देने वाली बात नहीं है, वह कहलाता है विनय। अपना तन, मन, वचन जुटा देना यह होता है दर्शनज्ञान और चारित्रके सम्बंधमें विनय। विनय से विद्यामें निपुणता प्राप्त होतो है। कोई कठोर हृदय वाला अभिमानी, उन्मत्त पुरुष धर्मकी थाह ले सके सो नहीं हो सकता है। शांति और संतोष

का अनुभवन कर सके ऐसा नहीं हो सकता है। विनयसम्पन्न पुरुष ही अपने आपमें स्पर्श कर सकता है, वह दूसरोंके हितमें सहायक हो सकता है।

तपविनय— एक विनय है तपविनय। तप कहते हैं इच्छाके रोकने को। जो पुरुष इच्छाको रोकता है और अपनी धुनके अनुसार शेष अवकाश, जब जब अवकाश है, तब ध्यान स्वध्याय आदि तपमें ही उद्यम करता है, ऐसा पुरुष तपका विनय करने वाला कहा जाता है। अपने आत्मामें स्थिरता होनेके अर्थ ही ये अनशन आदिक समस्त तपोंके उद्यम हैं। एक यह शुद्ध आशय न बन सके और फिर कितने ही मह न तप करें, तपको करके भाव होता है कि दुनियाके लोग मुझे समझ जायें कि मैं कोई साधु हूँ, तपस्वी हूँ, लोग मुझे मानते हैं तो इतना मानने अनुकूल मेरी स्थिति भी तो रहनी चाहिए। उसमें कभी न आये। न जाने कितना प्रयोजन हो जाता है उस अज्ञानी महापुरुषके, जिसको अपने संतोषपथका, शांतिमार्गका, मोक्षमार्गका परिचय नहीं है, अपने यथार्थस्वरूपका भान नहीं है। तपका प्रयोजन निश्चयचारित्रकी सिद्धि है, उस ध्येयकी पूर्तिके अर्थ अनशन आदिक तपोंकी आस्था होना यह सब है तपविनय। ऐसा यहां भावोंके द्वारा भावोंका विनय बनाया गया है।

उपचारविनय— अंतिम विनयका नाम है उपचारविनय। जो जीव सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रके मार्गमें प्रवर्तने बाले हैं, जिनके संगसे, स्मरणसे वैयाकृतिसे, उपदेशसे खोटे परिणाम विनष्ट हों, विशुद्धभाव प्रकट हों ऐसे परमेष्ठियोंकी मूर्ति आदिक नाम आदिककी स्थापना करना और उसमें विनय, वेदन, स्तवन करना ये सब उपचारविनय हैं। उपचारविनय भी अभिमान छोड़े बिना हो नहीं सकता। गर्वशील पुरुषोंको तो प्रभुमूर्तिके समक्ष भी झुककर बंदन करनेमें संकोच हो जाता है। चूँकि सभी लोग बड़ी भक्षिसे बंदना करते हैं और उनके बीच हम आ पड़े हैं। मान लो गर्वशील हम कोई तो खड़े ही लड़े बिल्कुल अटेन्शन थोड़ा हाथ जुङ जाते हैं, तो उपचारविनय भी करना कठिन हो जाता है गर्विष्ट जनोंको। धन जिन से प्राप्त हो उनसे बड़े विनयकी बात करना, नीचे बनकर बड़े मुलायम व्यवहार करना, यह उपचारविनय नहीं है। यह तो ससारकी पद्धति है, पर विनयसम्पन्नता नामक भावनामें जो उपचारविनय कहा गया है वह पंचपरमेष्ठियोंसे सम्बन्धित नामके स्मरणमें, समारोहमें किसी भी सम्बन्धित तत्त्वमें अपना आदर करना, सिर झुकाना, सद्वचन होना, ये सब उपचारविनय हैं ये सब विनय उसके ही प्रकट होते हैं जो गर्व छोड़कर

निरभिमान होकर पदोंसे दूर होकर नम्र होता है।

नग्रताके रहस्यका एक दृष्टान्त— भैया ! नम्र होनेवे मायने नीचे जाना है। किसलिए नीचे जा रहा है यह ज्ञानी, जिससे बिछुड़ गया था उससे मिलने जा रहा है नीचेके रास्तेसे यह ज्ञानी पुरुष । जैसे गर्भीके दिनोंके संतापमें समुद्रका पानी समुद्रसे बिछुड़ जाता है और यह पानी आकाशमें मंडराने लगता है कठोर बनकर । जब तक कि यह पानी समुद्रमें था, द्रव, कोमल बनकर रह रहा था, ऐसा उसका स्वभाव था । जब वह अपने घरसे बिछुड़ा और उड़कर आसमानमें पहुंचा तो कठोर बनकर ऊपर मंडराकर गर्व कर रहा है । यह ही पानी जो बादलोंके रूपमें कठोर बनकर मंडरा रहा था । सुयोग पाकर नम्र बन जाय, द्रवीभूत हो जाय और उनके द्रवीभूत होनेसे उनके अपने श्रोतसे मिलनेका यत्न होने लगे अर्थात् पानी बरसने लगे तो वह पृथ्वी पर नीचे-नीचेके गस्तेसे बह बह कर उस ही समुद्रमें मिल जाता है जिस समुद्रसे यह बिछुड़ गया था ।

परमार्थनग्रतासे आत्मलाभ— देसे ही यह उपयोग मेरा उपयोग मेरे स्वभावसे बिछुड़ गया । इच्छाके संतापसे तपनेके कारण अब यह आनन्दसमुद्रसे बिछुड़ गया, बाहर पहुंचा, बाह्य-पदार्थोंमें गया, कठोर बन गया अब । कोई विषयोंकी इच्छा करता हो, कोई विषयसाधनोंको जोड़ रहा हो, कोई अपनी पोजीशन संभालता हो, वहां उसके कठोरता ही आ जाती है । यह उपयोग कठोर बनकर बाहर-बाहर मंडरा रहा है । कभी सुयोग आये और यह तत्त्वज्ञानकी ऋतुमें, वातावरणमें यह द्रवीभूत हो जाय और अपने आपके श्रोतसे निज घरसे मिलनेका यत्न करने लगे तो बरसता है अपनी ओर, फिर नीचेसे ढलकता है, नम्र होता है, यों नीचेके मार्गसे चलकर अर्थात् नम्र होकर अब यह उपयोग अपने ज्ञानानन्द समुद्र में मिल जाता है । अभिमानी पुरुषका आत्मप्रभुसे मिलन नहीं हो पाता है । जैसे कठोर बादलोंको आसमानमें ही मंडराना पड़ता है, समुद्रसे मिलन नहीं हो पाता, यों ही यह कठोर हृदय बाला अभिमानी गविष्ठ हो कर बाह्यपदार्थोंमें गिरकर, भागकर, कठोर बनकर मंडराता है । जब तक नग्रता न आयेगी तब तक शांति और संतोषका मार्ग न मिल सकेगा ।

नग्रताका संदेश— भैया ! किस पर गर्व करना ? कौनसा यहां सार-भूत पदार्थ है, कौन शरण है, स्वप्नवत् यह असार संसार है । जब यह शरीर भी मेरा साथी नहीं है, मेरा शरण नहीं है जो हमारे बहुत निकट का है, तब फिर अन्य पदार्थोंसे क्या आशा की जाय ? अभिमान छोड़कर विनयशील बनना और अपने आपसे मिलनेके अर्थ अपने आपके रवभाव

की और फुकनेरूप नज़्मना आना, यह है विनयसम्पन्नता। ऐसे विनय-सम्पन्न पुरुष विश्वके प्राणियोंमें परम करुणाके भाव करनेके प्रसादसे वे धर्मनेता बन जाते हैं, ऐसे ही उत्कृष्ट पुरुष पुण्य प्रकृतिका बंध करते हैं।

३—शीलब्रतानतिचार

शीलब्रतेष्वनतिचार भावना—तीर्थकर प्रकृतिके बंधकी कारणभूत वृत्तीय भावना है शीलब्रतेष्वनतिचार। अहिंसा आदिक ब्रतोंमें और उनके पालनेके अर्थ कथायोंके त्याग कर देने रूप शीलोंमें जो निर्देषताकी प्रकृति है उसको कहते हैं— शीलब्रतेष्वनतिचार, शीलमें और ब्रतमें कोई दोष नहीं लगाना ऐसा यत्न होना और ऐसी भावना बनी रहनी चाहिए। स्वानुभूतिके लिए पदार्थोंका यथार्थ परिज्ञान हो जाना इनना ही मात्र कार्यकारी नहीं है, किन्तु वास्तविक चारित्र होना स्वानुभूतिके लिए कारण पड़ता है। स्वानुभूतिका अर्थ है निज सहज स्वभाव, जो ज्ञानानन्दमात्र है उसमें दोषका न आना, उसमें सिद्धरताका होना, सो चारित्र है।

शीलब्रतानतिचारकी आवश्यकता— जब तक यह आत्मा यथार्थ परिज्ञान करके अपने इन्द्रिय भनको संयंत नहीं करता और निजस्वभावमें उपयोगको स्थिर नहीं करता तब तक स्वानुभूति प्रकट नहीं होती। स्वका अनुभवन होना और स्वका ज्ञान होना इन दो बाणोंमें अन्तर है। स्वका ज्ञान करना ज्ञानसाध्य बात है और स्वका अनुभवन होना यद्यपि यह भी ज्ञानकी पर्याय है किन्तु ऐसा विशुद्ध ज्ञान परिणामन अपने आपको अंतः संयममें ढाले बिना प्रकट नहीं होता। इस कारण स्वनुभवके अर्थ, आत्म-कल्याणके अर्थ संतोष और संतोषके अर्थ शील और वृत्तमें दोष न लगाना ऐसा यत्न करना आवश्यक है। उपयोग ही तो है यह। जो उपयोग पापों में लगता है उस उपयोगमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वह अपने ब्रह्म स्वरूपका अनुभवन कर सके। इसके लिए तो बड़ी सावधानी की ज़रूरत है।

कुशीलकी प्रबल बाधकता— शील नाम आत्मस्वभावका है। आत्म-स्वभावका विधात करने वाले हिंसा आदिक ५ पाप हैं। उन ५ पापोंमें भी इस प्रसंगमें कुशील नामक पाप, कामसेवनकी वासना यह उन पापोंमें प्रधान है, और यह कुशील पाप समस्त पापोंको पुष्ट करता है। यद्यपि सभी कषाय आत्मस्वभावके अवलोकनके बाधक हैं, किर भी वासना, संस्कार इस कुशील नामक परिग्रहका पाप अविक खोटा बन जाता है। क्रोध आया, अपनेको न सभाल सके, कुछ क्रोधरूप परिणति हो गयी, ठीक है किन्तु वह क्रोध अपने आपमें गाठ बाधकर नहीं रह पाता कि रात

दिन उसका संस्कार बना रहे। हो गया जिस किसी समय हो गया, ऐसे मान कषाय भी हो जाती है, हो गयी, पर उसकी निरन्तर वासना बनाए रहे, यह कुछ काम हुआ करता है। पर लोभ कषायमें और लोभ कषाय से होने वाले अन्य कषायों और इसमें भी प्रधान स्पर्शन इन्द्रियके विषय के साधनमें जो वासना होती है वह वासना इसकी मूलमें ही बिगड़ करती हुई होती है। इस वासनासे आत्मस्वरूपकी ओर दृष्टि देनेका कम अवसर होता है। उन समस्त पापोंको नष्ट करनेमें समर्थ अंतरात्मा ज्ञानी पुरुष अपने शील ब्रतोंमें निर्देष आचरण करता है।

शीलकी सम्पन्नता— शील अथवा ब्रह्मचर्य दुर्गतिके दुःखोंको दूर करने वाला है, और शुभगतिकी प्राप्तिका कारण है। शील हो तो तप, ब्रत आदि सब जीवित रहते हैं। जैसे कोई पुरुष वेश्यागामी हो, परस्त्रीगामी हो, विषयलोलुपी हो और वह पूजन अभिवेक आदिक कामोंमें अपना लगाव दिखाये तो पहिचानने वाले जानते ही हैं कि इसकी ये सब बातें ढाँग भरी हैं। वासना तो कामविषयक निरन्तर इसके बनी रहती है। शील यदि नहीं है तो तप करना, ब्रत धारण करना, नियम पालन करना ये सब व्यर्थ हैं। जैसे जब जान नहीं रही तो शरीर मृतक है, वह क्वल दिखने भरकी बात है, कार्यकारी नहीं है। ऐसे ही जो शकिरहित है, कामसेवनका लभ्पटी है ऐसा पुरुष बाह्य तप, ब्रत, संयम भी पालन करे तो भी वह मृतकके समान दीखने भरका हो जाता है। वह कार्यकारी नहीं है बल्कि धर्मकी निन्दा करने वाला है। ज्ञानी, विवेकी पुरुष इस शील नामक धर्मका हड्डासे पालन करते हैं, वे अपने इस चंचल मनपक्षीको स्वच्छन्द नहीं विचरने देते हैं, उसका दमन करते हैं। यों अतिचारहित शुद्धशीलका पालन करने वाले ज्ञानी संतपुरुष जगत्के जीवों पर संकट हरण सम्बन्धी परमकरुणाका भाव करते हैं और उनके तीर्थकर प्रकृति का बंध होता है।

मनहस्तिकी उड़ंडता— यह मनरूपी हाथी जब स्वच्छन्द हो जाता है, अपने स्वरूप स्थानसे चलित हो जाता है तो वह महाअनर्थ उत्पन्न करता है, पापोंका कारण बन जाता है। जैसे कोई मदमत्त हाथी हो तो वह अपने स्थानको छोड़कर खूटेको तोड़कर बाहर भाग जाता है ऐसे ही यह मन जब कामवासनासे उन्मत्त हो जाता है तो समतापरिणामरूप अपने आत्मके स्थानसे हटकर बाहर भागता है। जो शीलरहित पुरुष है वह कुलको मर्यादाको भी छोड़ देता है, शांति तो उसके हृदयमें पनप नहीं पाती है। जैसे मदोन्मत्त हाथी सांकरको तोड़कर भाग जाता है, ऐसे ही

यह मन सुबुद्धिकी शृङ्खलाको छोड़कर भाग जाता है। 'कासी जाने न जानि कुजाति' जो स्पर्शनइन्द्रियके विषयमें लम्घट पुरुष हैं उन्हें अबने आपकी कुछ सुन्न नहीं रहती है। इस कामबण्णसे पीड़ित हुए पुरुषकी १० खोटी अवस्थाएँ होनी हैं, हचिपूर्वक विषयसाधनको देखना, मनमें उसनी कल्पना बनाए रहना, न मिलने पर अपनी स्वांसें फेंकना, भोजन पान न रखना और उस कामके भावसे उत्तर आदिक रोग हो जाना, कुछ भी न भुजना और कहां तक कहा जाय, अंतमें मरण भी हो जाय ऐसी स्थिति हो जाती है स्पर्शनइन्द्रिय विषयके लम्घटी पुरुषकी। इस काम-बासना बाले पुरुषक सुबुद्धि नहीं रह पाती है।

अविवेकी मनका उच्छ्रव्यता— जैसे मन्दोन्मत्त हाथी हो तो उसका जो चलाने वाला है, महाबत है उसकी भी खैर नहीं रह पाती। ऐसे ही जिसका कासी मन है वह सन्मार्गमें चलने वाले ज्ञानीको भी बरबाद कर देता है। उस ज्ञान विवेकी भी खैर नहीं रहती। शीलके विरुद्ध चलनेमें किन्ती हानि है? प्रथम तो वह अपना आत्मबल और शरीरबल समाप्त करना है और फिर कामके विषयसाधन मिल गये तो उनके भोगनेमें कहीं शांति और संतोष थोड़े ही मिलता है। अनेक अनर्थ शीलके भंग करनेमें हैं। जैसे हस्ती जो मदोन्मत्त है वह अंकुशको भी नहीं मानता है ऐसे ही जो मनरूपी हस्ती है वह भी गुरुबोंके शिक्षादायक वचनोंको भी नहीं मानता है। ऐसा है यह अविवेकी मदोन्मत्त हाथी कि छायावान, फलवान, वृक्षको भी उत्ताड़ कर फेंक देता है। यों ही है यह काम बासना कर व्याप्त मन वाला यह कासी पुरुष, यह ब्रह्मचर्यरूपी वृक्षको उत्ताड़ कर फेंह देता है जो ब्रह्मचर्य समस्त विषयतके आतापको दूर करनेमें समर्थ है, जि ब्रह्मचर्यके प्रनापसे यश चारों ओर फैलता है, जो स्वर्गके मोक्षके महान फलका देने वाला है ऐसे ब्रह्मचर्यवृक्षको उत्ताड़ कर फेंक देता है यह कामबासनासे पीड़ित प्राणी।

मन मतंगकी मूढ़ता— अहो इस भतवाले हाथीमें कहां विवेक है? यह कदाचित् सरोवरमें स्नान भी करले तो स्नान कर चुकनेके बाद बाहर आते ही सूँडसे धून अपने आप पर फेंक लेता है और ज्यों का त्यों गंदा बन जाता है। ऐसा जिसका मन काम बाण करि पीड़ित है वह कदाचित् इस ज्ञानरूपी सरोवरमें स्नान भी करनेका ज्ञवसर पाये तो थोड़ी ही देर पश्चात् अज्ञानरूपी मैलको यद्यपि थोड़े समयको धो ढाला था लेकिन पापके परिणामोंमें रहकर स्वच्छताका एकदम विनाश कर डालता है।

सच बात तो यह है कि कल्याणार्थीके प्रैयाम ही विलक्षण होते हैं।

जैसे संसारके व्याघोही पुरुषके प्रोग्राम एक मूल संसार जड़को पुष्ट करने वाले होते हैं तो कल्याणार्थी पुरुषके प्रोग्राम हितके लिए होते हैं। कल्याण हो, आत्महृषि जगे, संतोष हो, यदि ऐसा नहीं हो सकता तो इस जीवका कहीं भी हित नहीं है। जैसे हाथीके कान अत्यन्त चंचल होते हैं, स्थिरता से रह ही नहीं सकते, यों ही कामी मन वाले पुरुषकी इन्द्रियां अत्यन्त चंचल होती हैं। यह मन भी उन इन्द्रियोंके विद्योंके भोगनेमें चंचल बना रहता है। इस भनको कविजनोंने मदोन्मत्त हाथीकी उपमा दी है। जैसे मदोन्मत्त हाथी बरबादी पर उतारू रहता है ऐसे ही यह मन भी इस जीवकी बरबादी पर उतारू रहता है। जैसे हाथी हस्थिनियोंमें रमा करता है ऐसे ही यह कामी पुरुष कुबुद्धिमें रमा करता है। यह मन स्वच्छांदतासे डोलता रहता है। जैसे उस मदोन्मत्त हाथीके पासमें कोई पुरुष पहुंच नहीं सकता है ऐसे ही इस कामी गनके समीय कोई गुण नहीं पहुंच सकता है।

मन मतंगका स्तम्भन— लोकमें कहावत है कि जो लंगोटका सच्चा हो और हाथका पक्का हो उसे कहीं विषच्चि नहीं है। यदि इन दोनों ही बातोंमें वह कच्चा है, शिथिल है, चलित हो जाता है तो ऐसे पुरुषके पास कौन गुण आकर रहेगा? कोई नहीं रह सकता। अहो कैसा है यह दर्थ का विषय प्रसंग? इसमें इस जीवको कुछ नहीं मिलता है, बल्कि ऊँचे ऊँचे गंवा देनेकी बात है, लेकिन ऐसे ही मोह रागद्वेष काम अवगुणोंमें यह जीव अविवेकके कारण रमा करता है। भाई हाथी मतवाला हो गया है तो किसी उपायसे उसे हड़ लम्मेसे बांध दो, यही तो यत्न किया जाता है। ऐसा ही यह मन महा अनर्थ करने वाला मदोन्मत्त होकर यत्र तत्र विचर रहा है। अपना हित चाहते हो तो ऐसे यत्र तत्र विचरने वाले मनको अपने वश करो। वशीकरणका सीधा ही तो उपाय है। वस्तुका यथार्थ-स्वरूप जानें और निज स्वभावकी सतत् भावना करें। फिर तो सर्व शंकाएँ इसकी दूर हो जायेंगी।

कामकी अनज्ञता व मनोजमात्रता— इस कामको क्या बतायें? इसके जितने नाम है उन सब नामोंसे शिक्षा मिलनी है। इस कामका नाम अनंग है अर्थात् अंगरहित है, शरीर नहीं है, कोई इसके शरीरके अवश्यक भी नहीं है, फिर भी यह मन-मनसिज है। मनमें इसका जन्म हो जाता है। यह काम कोई मुश्वा प्यास जैसी नियमित वेदना नहीं है। न कहीं खाने की जैसी मुश्वा बढ़ती है, न ध्यास जैसी वेदना बढ़ती है, यों ही कुछ शरीर के थकानसे या अन्य बातसे नियमितता आ जाय कि भाई कामकी वेदना होना ग्राहकिक ही है सो नहीं है। यह तो मनसिज है। कायरपुरुषोंमें काम

की वेदना विशेष हुआ करती है वीरोंमें नहीं। इसका कोई रंगठंग ही नहीं है। यह तो मनसिज है। जब मनमें बात आयी कि कामवेदना जागृत होती है। ठंडी, गरमी, भूख, प्यास इनका तो कुछ अनुमान हो जाता है, कुछ युक्तियां चल जाती हैं, कुछ भविष्यके आसार भी नजर आ जाते हैं पर इस कामवासनमें तो कुछ भी अंदाज नहीं हो पाता। जब कभी मनमें आया तो यह उहएडता करने लगता है। इसको मनसिज कहते हैं। इसका मनमें ही जन्म है। जिसका न अङ्ग है और न रङ्ग ढङ्ग है उसका क्या पतला पकड़ना ?

कामकी मन्मथता, संवरारिता व कन्दपर्ती—इस कामका नाम मन्मथ भी है। जो मनको, ज्ञानको मथ डाले उसे मन्मथ कहते हैं। जिस का हृदय कामकी वासनासे व्यथित है ऐसे पुरुषको अशांति और शांति का आधार कैसे मिल सकता है? इसका नाम संवरारि भी है, संवरका अरि अर्थात् आत्महितका दुश्मन। जिस काल स्पर्शनइन्द्रियके विषय भोगोंकी वृत्ति जगती है उस काल तो इस जीवकी बड़ी दयनीय दशा हो जानी है। वहां हित संवर, अनाकुलता कैसे प्राप्त हो? इसका नाम कंदपर्त भी है। कामके कारण जो दर्प होता है, घमङ्ग उपजता है, जिसके कारण बड़ी दयनीय स्थिति बनती है वही तो कंदर्प है। इस कामके कारण तिर्यक्ष तिर्यक्ष आपसमें लड़कर मर जाते हैं और तिर्यक्ष ही क्या मनुष्य मनुष्य लड़कर नहीं मर जाते क्या? किस बात पर मर गए? न कुछ बात पर, वेवकूकी की बात, मूढ़ता की बात, अहितकी बात। विषयसाधनोंमें जो रुचि करते हैं उनकी अन्यत्र कहां पैठ हो सकती है? एक सूई दो जगह नहीं सी सकती है कि पूरब दिशाकी ओर भी सीवे और पश्चिम दिशाकी ओर भी सीवे। ऐसे ही समझो कि जो खोटे विचार हैं, कामवासनाके भाव हैं उनसे कहीं आत्मीय आनन्द मिल सकता है क्या? न तो इस लोक का भी आनन्द रहेगा, न परलोकका भी आनन्द रहेगा और न मुक्तिका ही आनन्द मिल सकेगा।

कामसाधनाङ्गोंकी गुह्यताका कारण कामकी दोषपूर्णता—देखो भैया! अन्य-अन्य विषयोंके साधनोंमें जो कारण पड़ते हैं ऐसे ही सारी इन्द्रियां जो प्रकट रूपसे दीखती हैं इन्हें छिपानेका कोई यत्न नहीं करता। इन आंखोंको ढकनेका कोई यत्न नहीं करता, न उसमें कोई बुरा मानता। लोकव्यवहारमें आंखोंके देखनेमें लाज नहीं आती है। नाकके देखनेमें लाज नहीं आती। मुँह तो बिलकुल सामने धरा है, इसको देखनेमें लाज नहीं आती। कान तो सदा एकरूपसे अड़े भये खड़े हैं। इनके देखनेमें

लाज नहीं आती, किन्तु कामके साधक जो अंग हैं उनका नाम बोलनेमें ही लाज आती है। ऐसे इस शीलविरोधी पापके कारण कितनी बरबादी हो रही है, जब अधिक आसक्ति हो जाती है तो कहते हैं लाज भी नहीं रही। एक ऐसी किञ्चिदंती प्रसिद्धि है कि जो पुरुष, स्त्री इस कामके प्रसंगमें लाज-रहित होकर प्रवृत्ति करते हैं वे मरकर कुत्तोंका जन्म लेते हैं। कामके अंग का नाम लेनेमें भी लाज आती है, लिखनेमें भी लाज आती है और तो देखो अन्य विषयके साधनोंको लूपानेकी जरूरत नहीं पड़ती, आंखोंसे देखते हैं, सबके सामने देखनेमें कोई भयकी बात नहीं है। शब्दोंको सुनते हैं। तो यों समझिये कि कामको साधना कितनी दोषपूर्ण चीज है? इसको त्याग करके शीलका निरतिचार पालनेमें ज्ञानी पुरुषकी भावना रहती है।

परमार्थ ब्रह्मचर्य— यह ज्ञानी निकट भव्यशीलके भम्बवधमें निर्देष पालनेकी भावना रख रहा है। जो शीलवंत पुरुष हैं उन्हें इन्द्र भी नक्सकार करते हैं। शीलवान् पुरुषमें ही सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र शोभित होते हैं। ब्रह्म नाम है आत्माका व आत्मस्वभावका उसमें चलना, रमण करना इसका नाम है ब्रह्मचर्य।

कुशीलकी ब्रह्मबाधकता— ब्रह्मचर्यके बाधक सभी पाप हैं, सभी कषायें हैं किन्तु उन ५ पापोंमें कुशील नामका पाप ब्रह्मचर्यको पात्रना भी न रहने देने वाला एक विरोधीभाव है। जैसे अन्य कषायोंके अन्य विषयों के भोगते हुए में आत्माकी खबर कदाचित् रह सकती है। भोजन कर रहे हैं तब आत्माकी विवेकीजन खबर रख सकते हैं, अन्य समयोंमें भी खबर रख सकते हैं। करणोंसे सुन रहे हैं गीत संगीत, वहां भी इस आत्माकी खबर रख सकते हैं, कोई आध्यात्मिक भजन हो, धार्मिक संगीत हो तो उसके माध्यमसे तो बहुत कुछ खबर रखी भी जाती है किन्तु स्पर्शनइन्द्रिय के विषयमें कामभोगमें तो इस आत्माकी खबर रहनेकी पात्रता नहीं हो पाती है। इस कारण कुशील शश्द्रसे शारीरिक व आध्यात्मिक ब्रह्मचर्यके घातकी प्रसिद्धि है और तत्सम्बन्धी दुर्भावनावोंकी प्रसिद्धि है।

शीलका महत्त्व— शीलवान् पुरुषको सब आदर देते हैं। कोई शील करि सहित हो और रूपसे रहित हो, रोगप्रस्त हो तो भी वह अपने वातावरणसे, अपने संसर्गसे समस्त पुरुषोंको मोहित करता है अर्थात् शीलवान् पुरुष पर सभी लोगोंका आकर्षण रहता है, शीलवान् पुरुष सभीको सुखी बनाता है। शीलरहित अर्थात् व्यभिचारी कोई पुरुष कामदेवके तुल्य भी रूपवान् हो तो भी लोकमें सब उसे धूतकारा करते हैं। जो कामी पुरुष है, धर्मसे चलित हो जाता है, आत्माके स्वभावसे विचलित हो जाता है,

व्यवहारकी शुद्धनासे भी विचलित हो जाता है उसका ही नाम व्यभिचारी है। व्यभिचारके समान अन्य कोई कुर्कम नहीं है। ऐसे इस शीलमें व शीलसाथ उत्तम ब्रतमें निर्दोष रहनेकी भावना ज्ञानी पुरुषके रहती है। ऐसे ज्ञानी पुरुष जब विश्वके प्राणियोंपर परमकरणका भाव करते हैं तो उन के तीर्थकर प्रकृतिका बंध होता है।

४-अभीक्षण ज्ञानोपयोग

अभीक्षण ज्ञानोपयोग — तीर्थकर प्रकृतिके बंधके कारणोंमें चौथी भावनाका नाम है अभिष्ट ज्ञानोपयोग। निरन्तर ज्ञानमें उपयोग रहे ऐसी भावना और ऐसी कोशिश रहती है इस ज्ञानी पुरुषको। अभिष्ट ज्ञानोपयोगका क्या बर्णन करें, कितना निर्दोष अनुष्ठान है यह निरन्तर ज्ञान की आराधना करना। जीवका धन, जीवका प्राण ज्ञान है, जो जीवका साथ नहीं छोड़ा है। ऐसे इस ज्ञानकी उपासनाके कारण जगत्में अन्य कुछ व्यवसाय ही नहीं है। सद्बुद्धि आये तो यह भाव बनता है कि मैं ज्ञानके अर्जनके लिए अथक प्रयत्न करूँ।

कलिपतजहु धन और ज्ञानवनमें अन्तर— धनका अर्जन सहज थोड़े पुरुषार्थसे जैसा होता है होने दो, किन्तु ज्ञानके अर्जनमें अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ भी समर्पित कर दिया जाय और एक ज्ञान प्राप्त हो जाये तो सब कुछ पा लिया समझिये। धन तो उद्य अनुकूल हो तो मिलता है, न अनुकूल हो तो कितना ही घम करें नहीं मिलता है। दूसरी बात यह है कि मिल भी जाय तो भी शत्रु बाधक अनेक हैं। न भी कोई बाधक हो, धन मिल भी जाय तो भी उसमें रागभाव करके आकुलता ही बढ़ाई जाती है, और अन्यमें तो यह धन साथ जाता ही नहीं है। मृत्यु हो गयी, लो साराका सारा धन छोड़कर चला जाना होता है। कौनसा लाभ लूँ लिया इस धन वैमनसे और आकुलना चिनाएँ जो मोल ली हैं वे सब त्यर्थ ही मोल ली हैं। किन्तु ज्ञानवन ऐसा धन है कि जिसे चोर न चुरा सके, राजा न बांट सके, मरने पर भी माथ जाय, संसकाररूपमें जाय। ज्ञान जागृत है तो संतोष रहता है, शांति रहती है। ऐसे इस ज्ञान की अर्जनमें जिसका निरन्तर उपयोग लगा रहता है ऐसे पुरुष की महिमा क्या बताई जाय?

अभीक्षण ज्ञानोपयोगसे मानवजन्मकी सफलता— भैया ! कितना दुर्लभ यह जन्म है, किर भी ऐसे कठिन मनुष्यभवको पाकर गप्तोंमें लगाना मांहियोंमें ही अधिक समय बिताना और असार भिन्न जड़ पौद्गतिक

धन वैभवके संचयमें, उनकी कल्पनामें समय गुजारना और जो अपना परमार्थ शरण है, सारभूत है, ऐसे ज्ञानके लिए समय न देना, इससे बढ़ कर खेदको बात और क्या हो सकती है? आत्मन् ऐसा सुअवसर पाकर, जहां श्रेष्ठ मन मिला है, जहां इन्द्रियां व्यवस्थित हैं, बुद्धि भी काम करती है, ज्ञानका सुयोग भी मिला है, ऐसे अवसरको पाकर हे आत्मन्! तुम ज्ञानाभ्यास हां करो। ज्ञानके अभ्यास बिला एक क्षण भी व्यतीत मत करो। ऐसी भावना अभीक्षण ज्ञानोपयोगमें होती है।

अपना वर्तमान परिचय— भैया! कुछ अपना परिचय भी प्राप्त करके देख लो कि जितना समय ज्ञानकी दृष्टिमें व्यतीत होता है उतना समय कितना सुन्दर सफल आलन्दमय व्यतीत होता है, और जितना समय किसीसे मोहर राग करनेमें, बाह्यदार्थविषयक गप्प-सप्पमें व्यतीत होता है, उनना वहां किस प्रकार परिणम जाता है? मिला क्या और बल घटा, आत्मशक्ति घट गयी। अतः एक ध्यान रक्खो यदि इस संसारके संकटोंसे छुटना है तो भावना बनाओ कि मेरा ज्ञानकी अर्जनमें विशेष उपयोग रहे। जैसे समय मिलेगा तो शास्त्रमें पहुँचेंगे, ऐसा प्रोग्राम रहता है, बजाय इसके यह प्रोग्राम हो जाय कि मुझे समय मिलेगा तो दूकान, धन, अर्जन आ विषयबातोंमें चलेंगे। मेरे पास इनके लिए समय ही नहीं है। अब धर्मसाधना करना, पूजन करना, धंटा दो धंटा शास्त्र स्वाद्याय करना, चर्चा करना इनमें ही समय विशेष लगेगा, ऐसा गृहस्थजनोंको सोचना चाहिए। समय मिले तो हम कुछ अमुक व्यापारमें भी चित्त दें। जितना समय मिलता है उननी देर दूकानका काम करना है। कोई कहे कि भाई एक दो काम और बढ़ा लो, तो उत्तर यह मिलेगा कि मेरे पास इनना समय ही नहीं है कि मैं कोई दूसरा रोजगार कहूँ।

समधका विवेक— अब समय कहां जाना चाहिए अपना? ज्ञानोपयोगमें, धर्मसाधनामें। अपनी-अपनी सब बातें देख लो, किसीकी ६०वर्ष की अवस्था हो गयी किसीकी ४० वर्षकी, धन संचयमें, परिवारसे गप्पोंमें रिश्तेदारोंके बीच बैठकर शान बगरानेमें, अपनी पोजीशन बगरानेमें इनना समय बिता डाला उसके फलमें पास व्या है सो तो बताओ? कुछ भी शांति पायी हो तो बताओ। जैसे अभी तक कोई भी संतोषकी बात नहीं पायी जा सकी तो अब समझो कि शेष जीवनका समय भी इन कार्योंमें बिता दिया तो आगे भी यही हाल होगा। सम्यज्ञानके अर्जनमें समझ चयनीत होनेकी भावना होनी चाहिए। यदि ज्ञानका अभ्यास नहीं है तो उस मनुष्य को पशुवत कह लीजिए। अज्ञानी है वह।

धर्मकी सुविधा, किन्तु अज्ञानीका व्यामोह— भैया ! ज्ञान और धर्ममें कुछ अन्तर नहीं है। कबल एक अनुपान जैसा अन्तर है। ज्ञानका ज्ञान बना रहना, उस ज्ञानके साथ रागद्वेष व लुषता न आने देना बस यही तो धर्मका पालन है। कितने विवादका विषय है कि समस्त परद्रव्य सर्व परजाव जो मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं, जिनसे मेरा रंच भी हित नहीं है, जिनको ये मोही समझ रहे हैं यह पुत्र, यह स्त्री, यह पति यही तो मेरे सब कुछ हैं और लोग तो सब गैर हैं। कितना अंधेरा मचा रक्खा है इस व्यामोही ने कि कुछ हितकी बात नहीं मिलती है, फिर भी यह जीव अहित में ही राजी हो रहा है और वहाँ ही चैन मानता है।

ज्ञानाभ्यासके उपाय— यह ज्ञानाभ्यास कैसे हो ? जो योग्य काल है उनमें जैन आगमका पाठ करो। किसी अपने से बड़ेको गुरु मानकर उससे शिक्षा प्रहण करो, और ज्ञानके अर्थ गुरुजनोंमें नम्रता, अभिनन्दन, विनय आदिक करो। जितना हृदय नम्र बनेगा, जितना विनयशील हृदय बनेगा उतना ही ज्ञानका प्रवेश होगा। विनयमें ज्ञानव आकर्षणकी शक्ति है, ज्ञानाभ्यासके अर्थ ज्ञानका सहायक यह काम है विनयपूर्वक रहना। ज्ञानोपयोगके ५ साधन हैं—(१) शास्त्रको बांच वर अर्थ विचार कर अपने आत्माके स्पर्शका यत्न करना। (२) कल्याणव भावसे दूसरोंसे कुछ पूछना। पूछनेके दो कारण हुआ करते हैं सर्ववृष्टि पूरुषक। प्रथम तो यह कि जिस विषयमें जानकारी नहीं है जानना चाहता है उसको पूछा जाता है, दूसरे यह कि जिस बातको जानता है उसमें कुछ थोड़ासा संदेह हो तो उसको मिटानेके लिए और अपनी जानकारीव तत्त्वको दृढ़ करने के लिए पूछा जाता है। कोई दूसरेकी परीक्षाके लिए पूछे तो वह धर्ममें शामिल नहीं है, स्वाध्यायमें शामिल नहीं है अथवा मैं लोकमें कुछ बड़ा कहलाऊ ऐसे भावसे पूछे तो वह भी धर्ममें शामिल नहीं है। (३) बार-बार विचार करना, भावना करना, चिंतन करना यह ज्ञानाभ्यासका मार्ग है। (४) किसी गुरुसे विद्या पढ़ना उसमें धार्मिक विषयको याद करना यह भी ज्ञानाभ्यास के उपायमें शामिल है। (५) दूसरे जीवोंको धर्मका उपदेश देना यह भी ज्ञानके उपयोगमें शामिल है। धर्मोपदेशसे भी निजज्ञानीकी वृष्टिका अभ्यास बढ़ता है।

सुखका यत्न— सुख तो सभी चाहते हैं, दुःख कोई नहीं पसंद करता है। पर एक बार भी तो जो सुखका वास्तविक कारण है उस कारणमें जुट जाओ। अनादि कालसे अब तक अनन्त भव पाये हैं जिन भवोंमें इस जीवने नाना विषयसाधन पाये, नाना मित्रजन पाये, बड़े-बड़े वैभव पाये,

किन्तु वे सबके सब छूट गए। आज कोई भी वैभव अपने काम नहीं आ रहा है, फिर इस वैभवके पीछे इस मायामयी इज्जतके पीछे अपने आपको क्यों सताया जा रहा है? सुख शांति आरामसे एक क्षण भी नहीं बिताया जा रहा है। शांतिके अथं इस बातका निर्णय करें कि हमें अपने जीवनमें ज्ञानकी उत्तरोत्तर प्रगति करना है। मत सुनो किसी की नाहक बातें। समय निकले घंटा डेढ़ घंटें तो उसे स्वाध्यायमें लगावो, कुछ समय तक गुरुजनोंसे पढ़ो। हर्ज ही इसमें क्या है? रोज-रोजके जीवनमें दो तीन घंटा ज्ञानार्जनमें व्यतीत हो जायें तो क्या हर्ज है?

समयका सदुपयोग आवश्यक कर्तव्य— भैया! अगर १८ घंटे आप धन कम सहते हो तो उसमें भी हमें खुशी है। खूब कमावो, उसे लेकर कहां जावोगे, वह तो हम लोगोंके काममें याने धममें ही काम देगा, या जो आपके उत्तराधिकारी है, जो कि वे भी सधर्मीजन हैं उनको छोड़ जावोगे तो अच्छी बात है। खूब आप धन कमावो, उष्णामें मरे जावो, आपसे आपका बड़ा उपकार हो रहा है, अगर १८ घंटे कमा सकते हो तो कमावो अन्यथा गप्पोंमें तो समय न लगावो, व्यर्थमें तो समय न खोवो। अरे १८ घंटे कमाता कौन है? कमानेके भी २-४ घंटे और खानेको भी बैंड २-४ रोटी। ३४ घंटेमें २ तीन घंटे कोई अधिक नहीं होते हैं, अतः ज्ञानार्जनमें समय व्यतीत होना चाहिये। हाँ एक बात है—एकही पञ्चतिसे हम ज्ञानका अर्जन करें तो उसमें मन नहीं लगता है। सो आप इन सब पञ्चतियोंको अपनावो, पौन आध घंटे तक शास्त्रसभा करो उसमें सुनो अथवा पढ़ो, एक आधघंटा अपने से बड़ा जिसे मान रखता हो, अपने ही गांवका जो कोई ज्ञानी पुरुष हो उससे कोई ग्रन्थ पढ़ने लगो, न भी कोई ल्यादा ज्ञानी हो तो भी यदि सभभमें आवे कि हमसे अधिक यह ज्ञानी है उसीको अपना बनालो। इतना तो किया ही जा सकता है कि आधा या चौथाई पन्नेका पाठ ले लिया और फिर याद करके दूसरे दिन सुनायें।

सत्कृत्य करने लगो— एकलव्यने द्रोणाचार्यकी मूर्ति बनाकर अपने आप ही कह सुनकर धनुष विद्या सीख ली थी। हाँ महाराज इस दिशामें तीर चलावें? हाँ हाँ चलावो। लो गुरु शिष्यमें बात हो गयी। वहाँ जंगल में है कोई नहीं, केवल एक मिट्टीकी मूर्ति बनी हुड़ी थी। गुरुकी आज्ञा मानते जा रहे हैं और अपने आप ही हाँ करते जा रहे हैं, ऐसी गुरुभक्ति करके उन्होंने धनुष विद्या सीख ली थी। यह सब कथा सभी लोगों को विदित ही होगी, तो फिर हम अपने से किसी बड़े को अपने से बड़ा मान लें, आखिर चेतन ही तो हैं वे, ज्ञानवाव ही तो हैं। उनको गुरु मानकर शिक्षक मान

कर किर उनसे विद्याभ्यास करें तो इसमें कौनसी हानि है ? अभी दो बातें बतायीं—पहिली तो शास्त्रसभाकी बात और दूसरे किसीसे कुछ पढ़ लिख लेनेकी बात, तीसरे कुछ एकांतमें अलग बैठकर स्वयं ही किसी अन्थ का स्थाध्याय करो । चौथी बात कुछ लिखना भी शुरू करो, विचार बनावो जो समझा है उसे लिखो । यह लेखन भी ज्ञानसाधनामें बड़ा सहयोग देता है और एक बात है तत्त्वचर्चाँ करो । ऐसे अनेक उपाय बनाकर इस ज्ञान की साधना करिये । ज्ञानकी उपासनासे ही शांति और संतोष मिलेगा । यों अपने कल्याणके अर्थ । अपने आत्माकी पवित्रताके अर्थ ऐसी भावना बनायें और कोशिश करें । करेका ही सब कुछ मिलता है । ज्ञानके अर्जनमें मारा अनेक उपायोंसे समय ब्यतीत हो ऐसे अभीष्ट ज्ञानोपयोगकी जिसकी भावना है ऐसा पुरुष विश्वके जीवोंपर परमकरुणाका भाव करना है तो वह तीर्थकर प्रकृतिका बंध करता है ।

उपयोगका सारभूत और असाररूप आश्रय— जीवका लक्षण उपयोग बताया गया है । जीवका उपयोग कहीं न कहीं लगा ही रहता है विषयकषायोंमें लगो, धर्मसाधनामें लगो अथवा ज्ञानके स्वरूपमें लगो, कहीं न कहीं उपयोग लगा ही रहता है । जो उपयोग ज्ञानके स्वरूपमें लगा होता है उसे कहते हैं अभीदृश्यज्ञानोपयोग अथवा जो ज्ञानकी वार्ताओंमें लगा रहता है वह भी अभीदृश्यज्ञानोपयोग । इस जगतमें बाहर यहीं कुछ सर नहीं है । केवल मोहवश अज्ञानी लोग कल्पनाएँ बनाया करते हैं । यह मेरा घर है, वह मेरा वैभव है, यह सम्पदा है, पर आत्माका तो आत्माका स्वरूप ही है । जो आत्माके साथ अनादिसे है और अनन्तकाल तक रहेगा वही अपने आत्माकी चीज़ है । जो आत्माकी वस्तु नहीं है ऐसे भिन्न परपदार्थोंमें अपना उपयोग लगावो तो वहाँ क्लेश ही हाथ आता है । परवस्तु में आनन्द है कहाँ, जिससे परवस्तुके उपयोगमें आनन्द मिले । किन्तु ज्ञान-स्वरूपका उपयोग बने, अपने आत्माके स्वरूपमें उपयोग जाय तो वहाँ वास्तविक आनन्द मिलता है ।

व्यामोहियोंकी परेशानी और निर्मोहियोंकी घुन— भैया ! यहाँ तो परेशानी लोगोंको यह मालूम होती है कि लाखोंका धन वैभव कमाया मुश्किलसे और मरने पर दमड़ी भी साथ नहीं जाती है । इस घटनाके कारण सबके घुटने टिक गये । खूब बोल लेते हैं हर बातमें । अपने पुण्य का परपाठा भी दिखाते हैं पर सबके लिए यह एक ही बात है कि मरने पर जीवके साथ कुछ भी नहीं जाता है । बड़े-बड़े चक्रवर्तीं महापुरुष समस्त वैभवको त्याग कर एक आत्माके ज्ञानस्वरूपके ज्ञानमें ही लगे और इस

बलसे उन्होंने अपना उद्धार पाया। उन महापुरुषोंको बड़े-बड़े वैभवमें कुछ भी आनन्द न आया और एक ज्ञानस्वरूपके अनुभवमें ही उन्हें आनन्द आया। राजपाटको छोड़कर मुनि हो गये। उन्हें मुनिपदमें आनन्द न आता तो मुमि अवस्था छोड़कर घर पर पहुंच जाते, और तब तो परिवारके लोग बड़ी खुशी ही मनाते। पर कोई भी ऐसा उदाहरण न मिलेगा जो कि राजपाट, धन, वैभवको त्यागनिके बाद फिर दुबारा घर आया हो। तो भालूम होता है कि वैभवके सुखसे भी अनन्तगुणा आनन्द उन्हें निर्जन स्थानमें अपने आपके ध्यानमें मिला। इसी कारण वे उस आनन्दको छोड़ कर फिर घर नहीं गये।

ज्ञानयोगकी सुगमता— अन्तरात्मा पुरुषकी ऐसी भावना रहती है कि अनादिकालसे अब तक काम, क्रोध, मान, माया, लोभके संगमें समय बीता, अब मेरा उपयोग भगवान्के गुणगानमें लगे। देखिये जैसे जाडेके दिनोंमें तालाबके किनारे नहाने वाले लड़के बैठे हैं, तालाबका जल ठंडके मारे छुबा नहीं जाता है, थोड़ा पैर पानीमें लगाया फिर वापिस लौट आनेकी इच्छा होती है। कोई बड़ी हिम्मत करके एकदम तालाबमें कूदे अथवा कोई जबरदस्ती तालाबमें पटक है, लो सारा जाड़ा खत्म हो जायगा, फिर तो वह बड़े आनन्दसे नहायेगा। ऐसे ही शास्त्रोंके स्वाध्याय में, ज्ञानाभ्यासमें जब तक उसमें लगे नहीं हैं तब तक डर सा लगता है, चित्त नहीं चाहता। गप्पोंके लिए विषयकषायोंके लिए मन बहुत किया करता है। वहां तो रातके १२ बज जायें फिर भी गप्पे पूरी नहीं होतीं, किन्तु ज्ञानाभ्यासके लिए स्वयं अथवा गुरुमुखसे या अन्य प्रकारसे ज्ञान-ज्ञन करें, इस बातके लिए प्रमाद होता है, चित्त नहीं चाहता, मन नहीं लगता, किन्तु दृढ़ चित्त करके ज्ञानाभ्यासमें जरा मन लगा दिया जाय उसके बादमें फिर इसका समय अच्छा व्यतीत होगा, उसे आनन्द आयेगा।

ज्ञानका सतत उद्योग— भैया ! निरन्तर ज्ञानमें उपयोग रहे ऐसी अपनी भावना रखनी चाहिए। अरे, अन्य पदार्थोंमें उपयोग देकर कौनसी सिद्धि कर ली जायेगी ? चेतन और अचेतन दोनों प्रकारके ही तो परियह हैं। चाहरमें किसमें उपयोग देकर कौनसी आत्माकी सिद्धि कर ली जायेगी और एक निज ज्ञानस्वरूपमें उपयोग बने तो कर्म भी कटेंगे, संकट टलेंगे, मोक्षमार्ग मिलेगा, शाश्वत आनन्द मिलेगा, ऐसे ज्ञानके उपयोग की निरन्तर भावना बनावो। अपना उपयोग अपने ज्ञायकस्वरूपमें ही ठहर जाय, रागादिकके वशीभूत न हो तो इसमें ही अपना हित है, यही अभीक्षण ज्ञानोपयोग है। जो शिष्यजन हैं और जो कम पढ़े लिखे हैं

उनको भी ज्ञानकी बात सिखाना, उपदेश करना, पढ़ाना यह सब भी ज्ञानोपयोग है। संसारका पदार्थस्वरूप, शरीरका यथार्थस्वरूप, भोगों का यथार्थस्वरूप चितनमें रहना यह भी ज्ञानोपयोग है। कोई ज्ञानोपयोग उत्कृष्ट ज्ञानोपयोगका सहायक है और कोई ज्ञानोपयोग साक्षात् ज्ञानोपयोग है। सर्व द्रव्योंके बीचमें पड़ा हुआ भी, मिला हुआ भी यह निज आत्मा भिन्न प्रतीतिमें आये, अनुभवमें आये, यह है उत्कृष्ट ज्ञानोपयोग। ज्ञानाभ्यास करनेसे, इस ज्ञानस्वरूपके उपयोगके होनेसे विषयोंकी बाढ़ा नष्ट हो जाती है।

आनन्दका व्यवसाय— भैया ! जीवको तो सुख चाहिए है। सुख दो प्रकारके हैं— वैषयिक सुख और एक आत्मीय सुख। जिसे आत्मीय आनन्द नहीं मिला है वह प्रकृत्या वैषयिक सुखकी ओर मुड़ेगा। वैषयिक सुखका लगाव जब छूटे तब आत्मीय आनन्दका अनुभव जर्गे तथा यह भी तथ्य समझ लीजिये एक इस ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वके अनुभवके जो आनन्द प्रकट होता है उसके फलमें स्वयमेव विषयोंकी बाढ़ा दूर हो जाती है। लोगोंको अपने आपके बारेमें यह शिकायत रहती है कि मन स्थिर नहीं होता। अरे मन कैसे स्थिर हो ? बाह्यपदार्थोंमें मन लगाये और मन स्थिर हो जाय यह तो असम्भव बात है। कारण यह है कि जिन बाह्यपदार्थोंमें मन लगाया है वे बाह्यपदार्थ भिन्न हैं, वे अपनी परिणतिसे अपना परिणामन करते हैं। उनके परिणामनसे हमारा परिणामन नहीं होता। हम चाहते हैं अपने मनके अनुकूल परका परिणामन, ये बाह्यपदार्थ सदा मेरे पास रहें, मैं जैसा हूं तैसे ये बाह्यपदार्थ बनें, किन्तु ऐसा हो कैसे सकता है ? तब मन कैसे स्थिर हो ? मन स्थिर होनेका उपाय एक यह ज्ञानोपयोग ही है।

ज्ञानोपयोगका प्रसाद— अपने ज्ञानस्वरूपका उपयोग बना रहे कि यह मैं ज्ञायकस्वरूप हूं, नित्य हूं, अविनाशी हूं, स्वतन्त्र हूं, ज्ञानानन्दमय हूं, मेरा किसी अन्यसे कोई प्रयोजन नहीं है, अपने आपमें अपने प्रयोजन से रक्ता रहता हूं। ऐसी स्वतंत्रताका मान, ज्ञानस्वरूपका प्रयोग अपनेको मिले तो मन स्थिर रह सकता है। बाह्यपदार्थोंके विषयोंमें मन फंसाकर मन को स्थिर नहीं बनाया जा सकता है। जो भी संसारके संकटोंसे मुक्त हुए हैं वे सब इस ज्ञानाभ्यासके प्रतापके हुए हैं। अरे मुक्त होना है जिससे उस का ही पता नहीं है तो मुक्त हुआ किससे जायेगा ? मुक्त होना है मुझे, मेरा स्वरूप क्या है ? इसका यथार्थ भान हो तो मुक्त हो सकते हैं और जरा यह भी तो देखिये कि यह आत्मा तो सदा मुक्त है। स्वरूपदृष्टिसे देखो

तो यह आत्मा प्रत्येक परपदार्थके स्वरूपसे अब अनादिसे ही मुक्त है अर्थात् किसी भी परमें यह आत्मा मिला हुआ नहीं है किन्तु भ्रम लग गया है, पर्यायमें कल्पना जगी है, देइदिक निकटके पदार्थमें ममता लगी है, यह भ्रम मिट जाय तो यह आत्मा अभी सर्वसंकटोंसे मुक्त हो सकता है। यह सब इस ज्ञानोपयोगका प्रसाद है।

‘ज्ञानाभ्यास करे मन माहीं। ताके मोह महातम नाहीं॥’ ज्ञान एक प्रकाश है। जैसे सूर्यका और अन्धकारका एक जगह निवास नहीं हो सकता है, जहां सूर्यका प्रकाश है वहां अंधेरा नहीं है ऐसे ही जहां ज्ञान-प्रकाश है वहां मोहांधकारका एक आत्मामें निवास नहीं हो सकता है। जिस आत्मामें ज्ञानप्रकाश है उस आत्मामें मोहांधकार नहीं ठहर सकता है। दुःख है तो मात्र मोहांधकारका है। एक भी जीव दुःखी नहीं है किन्तु सबके चित्तमें जुदे-जुदे प्रकारका मोह है, किसीका किसी वस्तुमें राग है किसीका किसी वस्तुमें राग है। इस मोह रागके कारण सभी जीव परेशान हैं। यह परेशानी अभीक्षण ज्ञानोपयोगके प्रसादसे मिट सकती है।

ज्ञानवलका पौरुष—जिसने ज्ञानाभ्यास नहीं किया, पर्यायको ही निजस्वरूप माना, ऐसा पुरुष कोई भेष रखकर भी बाह्य घोर तप करके भी कर्म खिरा नहीं पाता है। अज्ञानी जीव उदीरणा कर करके करोड़ों भवों में कर्मोंको खिरा नहीं पाते हैं और ज्ञानी जीव इन कर्मोंको अन्तर्मुहूर्त में ही सेकेण्डोंमें ही ज्ञानाभ्यासके बलसे, ज्ञानस्वरूपकी अनुभूतिके बलसे खिरा देता है, नष्ट कर देता है। ज्ञानकी बड़ी महिमा है। ऐसा निरन्तर ज्ञानका उपयोग करने वाले महापुरुष चाहे अविरत सन्ध्यन्दृष्टि हों, चाहे सप्तम गुणस्थानवर्ती साधु हों, जब विश्वपर परमकरुणाकी भलक होती है तब तीर्थकर प्रकृतिका बंध होता है।

ज्ञानोपयोगके सिवाय संतोषके अन्य उपायका अभाव—भैया ! इस लोकमें कोई संतोषका उपाय है क्या ? निर्धन धन बिना दुःखी हैं, धनी तृष्णाके कारण दुःखी हैं, कोई इज्जत चाहकर दुःखी हो रहे हैं, कोई इज्जत पाकर दुःखी हो रहे हैं, कोई आज्ञा देकर दुःखी हो रहे हैं, कोई आज्ञा मानकर दुःखी हो रहे हैं, कोई कुटुम्बके कारण दुःखी हो रहे हैं तो कोई कुटुम्बके बिना दुःखी हो रहे हैं और कदाचित् पुण्यके सुयोगसे कुछ इष्ट सामग्री भी मिल जाय तो भी वे ज्ञान बिना तृष्णावश दुःखी होते रहते हैं। कौनसी बात यहां ऐसी है जिससे यह जीव संतोष पा सके ? वह पदार्थ है अपना निज ज्ञानस्वरूप, यह स्वरूप यथार्थ समझमें आ जाय लो यह मैं कंबल ज्ञानमात्र हूं, इस ज्ञानके ही प्रभावसे संतोष उत्पन्न होता

है, इस ज्ञानके प्रभावसे ही उत्तम क्षमा आदिक धर्मोंका अभ्युदय होता है। सर्व कल्याणोंकी जड़ है यह ज्ञानोपयोग। यथार्थ ज्ञानकी किरण बिना, शुद्ध बोधके प्रकाश बिना यह सारा जीवन निष्फल है।

दुर्लभ नरजन्मकी उपयोगिता— यह मनुष्यजन्म कितना दुर्लभ है, जब संसारके अनेक देहियोंपर दृष्टि ढालते हैं तब समझमें आता है। सङ्कोंसे निकलते हैं कैसे सूकर हैं, कैसे गधे हैं, कहाँ चूहा मरा पड़ा है और और भी कितनी ही प्रकारके जीव जंतु हैं। आखिर उनमें भी तो जीव है, वे भी तो मेरे ही स्वरूपके समान स्वरूप वाले हैं। चेतन जाति तो एक ही है। इनकी इन खोटी दशाओंको निरखकर फिर यह ज्ञात होता है कि मैंने बहुत दुर्लभ समागम प्राप्त किया। प्रथम तो यह मनुष्य भव पाया, यह ही एक बहुत बड़ी बात है। और फिर कुछ ज्ञान पाया, धर्मकी बात समझ सकते हैं, धर्मकी बात बोल सकते हैं, ऐसा दुर्लभ समागम पाकर भी हम इसका लाभ न उठायें, ज्ञानोपयोगमें न जुटें तो यह एक बड़े विषादकी बात है। यह अभीक्षण ज्ञानोपयोग तीर्थकर प्रकृति बंधका कारण होता है। धन, कन, कंचन, राजसुख, हाथी, घोड़ा ये कुछ भी काम नहीं आते हैं किन्तु ज्ञान यह आत्माका स्वरूप है। इसके प्रकाशमें संतोष और शांति प्राप्त होती है। यह ज्ञानस्वरूप प्रकट हो जाय तो फिर अविचल हो जाता है। इसे कोई छुड़ा नहीं सकता, कोई बांट नहीं सकता। ज्ञानके समान इस लोक में सुखकी चीज अन्य वस्तु नहीं है। सब कुछ मिले, पर एक ज्ञान पास न हो, विवेक न हो तो वह निराकुल तो रह नहीं सकता।

रटंत विद्यासे सिद्धिके अभावका एक दृष्टान्त— भैया ! बेवज्ज्ञ अक्षर विद्या पढ़नेका नाम ज्ञान नहीं है किन्तु स्वयंकी प्रतिभा, स्वयंका विवेक यह ही हितकारी ज्ञान है। एक बार दो तीन ज्योतिषी आये। राजासे बोले— महाराज हम ज्योतिषक द्वारा अप्रत्यक्षकी भी बात बता सकते हैं। तो राजा ने हाथमें लिया एक मालाका दाना जिसमें छेद रहता है और जो सूतमें पोथा जाता है, उसे चुपके से लिया और ज्योतिषियों से पूछा— बतावो हमारी मुट्ठीमें क्या है ? तो उन्होंने अनेक बातें बताईं। एकने तो बताया कि आपकी मुट्ठीमें सफेद-सफेद चीज है तो दूसरा कहता है कि आपकी मुट्ठीमें गोल-गोल चीज है तो तीसरा कहता है कि उस चीजमें छेद भी है। तो चौथे से कहा कि अब तुम बतावो क्या है ? तो चौथा कहता है कि खोल दो राजन् मुट्ठी, चक्कीका पाट है। औरे ठीक तो बता रहे थे कि सफेद भी है, गोल भी है, उसमें छेद भी है, उसमें ये तीनों बातें तो हैं, पर वह चौथा यह न सोच सका कि चक्कीका पाट मुट्ठीमें कैसे

आयेगा ? केवल अक्षर विद्या और सीखी हुई विद्या इसवा ही नाम ज्ञान नहीं है । अनुभवमें उतरे वह ज्ञान है ।

जीवनका लक्ष्य— अपने आपके स्वरूपका प्रतिबोध हो जाय ऐसा ज्ञान अ आ इ है का जिसने लिखना न सीखा हो उसे भी हो सकता है । जब पशुपक्षियोंको भी वह ज्ञान प्रकाश आता है जिस ज्ञान प्रकाश से वे कर्मनिर्जरा कर रहे हैं तो हम आप मनुष्योंके न आये यह कैसे हो सकता है ? तो अपनी हृषि क्यों न बदले, हम जिन्दा हैं तो घर बनानेके लिए, कुछुम्ब परिवारके लोगोंमें ही तन, मन, धन, वचन न्यौछावर करने के लिए जिन्दा नहीं हैं । अनेक कुयोंनियोंमें भ्रमण करके बड़ी कठिनाईसे मनुष्यभव पाया है इसका सुधुपयोग आत्मविवेक करनेमें है । हम जिन्दा हैं तो अपने आत्मस्वरूपकी पहचान करने के लिए और यह ही मात्र मैं हूँ ऐसी हृषि बनानेके लिए हम जिन्दा हैं । कुछु मोड़ आये जीवनमें, कुछु सही हृषि बने तो इस मनुष्यजन्म की सफलता है ।

ज्ञानोपयोगका हस्तावलम्बन— भला बतलाओ संसारमें कितने संकट हैं । न भी कोई पीड़ा दे रहा हो, न भी कोई कुछु आकरण कर रहा हो, किन्तु जिस जीवको अपने स्वरूपका प्रकाश नहीं मिला है वह तो परपदार्थोंमें अपने आपके लिए कुछु न कुछु कामना करता हुआ दुःखी रहा करेगा । तो दुःखमय संसारसमुद्रमें छूबते हुए इस जीवको हस्तावलम्बन देने वाला कौन है ? न पुत्र है, न पिता है, न भाइ है, न बहिन है । कोई भी इस जीवको संसारसमुद्रसे, दुःखोंसे बचानेमें समर्थ नहीं है । इसे संकटोंसे दूर कर सकने वाला कुछु है तो इसका ही यथार्थ ज्ञान है । रोग भी अपने हाथ है और रोगका इलाज भी अपने हाथ है । पर रोग तो बढ़ाया जा रहा है और इलाज नहीं किया जा रहा है । अम, राग, द्वेष, मोह ये करना अपने ही परिणामनकी तो बात है । और इन सब विभाव-परिणामियोंसे भिन्न शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का अनुभव कर लेना यह भी तो अपनी परिणामिकी बात है । सो सुखी होनेके लिए एक इस ज्ञानका उपयोग किया जाय तो यही हमारे कल्याणका उपाय है ।

परकी व्यर्थ चाह— भगवंतोंकी यह आज्ञा है कि हे भव्य जीवों ! सत्य आनन्द चाहते हो तो अपनेको ज्ञानमें उपयुक्त करो अर्थात् ज्ञानकी आराधना करो । जब यह जीव परिणाम करने से अतिरिक्त अन्य कुछु कर ही नहीं सकता तब अपने परिणामोंको ऐसे सारभूत तत्त्वमें लगावो कि जिससे संसारके समस्त संकट टल जायें । बताओ अच्छा इस लोकमें कौन सी चीज ऐसी है कि जिसको रखने से आत्माका भला हो जायेगा ? खूब

विचार करलो, दुकान बन गयी मकान बन गया, कुदुम्ब हो गया तो क्या होगा अंतमें ? हजारपतिसे लखपति हो गए, करोड़पति बन गए, अरबपति हो गए तो क्या होगा उस धनका ? आत्मा तो एक चैतन्यस्वरूप है, उसका तो अपने चैतन्यस्वरूपमें ही अपने ही सत्त्वक कारण जैसा कुछ उपादान और निमित्त थोग है परिणमता रहेगा। इसका अन्य पदार्थोंसे कौनसा भला है ।

भगवद्भक्ति कहां— हम भगवानको पूजते हैं, किन्तु अपने चित्तमें यह बात न लायें कि ये भगवान क्यों पूज रहे हैं ? इसलिए ही तो पूज रहे हैं कि ये केवल ज्ञानपुञ्ज रह गए, इनका घर नहीं, शरीर नहीं, धन वैमव नहीं, कभी संकट नहीं, क्लेश नहीं, केवल ज्ञानपुञ्ज विकसित हो गया है, तो अपनेको भी ऐसा ही प्रोग्राम करना चाहिए कि मोह छूटे, अपनेको मैं आकिञ्चन समझ लूँ और केवल इस ज्ञानस्वरूपमें ही मेरा उपयोग लगे ऐसी बात यदि नहीं आती है तो आपने भगवानको पूजा कहां, और बड़ा माना कहां ? बल्कि अज्ञानीजन तो ऐसा अपने मनमें श्रद्धान् रक्खे हुए हैं कि हम इतने चतुर हैं कि भगवानको भी हम चकमा दे सकते हैं और अपना काम बना सकते हैं । तो कहां माना प्रभुको बड़ा, प्रभुका बड़पन तो तब माना समझो जब कि यह बात आपमें रुच जाय कि ये भगवंत प्रभु ज्ञानपुञ्ज हैं, ये सर्वश्रेष्ठ हैं, इनमें ही परमधानन्द है, ये ही सर्वोक्तुष्ट विकास है, मुझे ऐसा ही होना है । ऐसी बात हृदयमें जब तक नहीं आती तब तक भगवानको भगवानके रूपमें माना ही कहां है ?

ज्ञानशरणका अवशरण— भैया ! ज्ञानका सहारा लिए बिना शांति का पथ मिल ही नहीं सकता है । कौन काम करने योग्य है कौन नहीं है, यह जब तक विदित नहीं होता तो मोक्षके मार्गमें कैसे आ सकते हैं ? अपने पाये हुए इस समागम चतुष्यको ज्ञानके लिए ही लगावो । यह तन पाया है तो ज्ञानके लिए इस तनका श्रम करो । ज्ञानवंत गुरुजनोंकी सेवामें अब तनका श्रम करो । मन पाया है तो ज्ञानकी उपासनाके लिए उत्सुकता रक्खो और ज्ञानवंत पुरुषोंकी मनसे सराहना करो । धन पाया है तो ज्ञान की साधनाके प्रसारमें इसका व्यय करो । अपने शिक्षणके लिए भी व्यय करो । दूसरे भी धर्मविद्या पढ़ें उसके लिए व्यय करो अथवा अनेक साधन हैं, विद्वानोंका समागम बनावो, उनके आने जाने आहार आदिमें व्यय करो अथवा पहिजे शास्त्र लिखने की पद्धति थी, लोग शास्त्र लिखानेमें व्यय करते थे । अब शास्त्र प्रकाशनकी पद्धति है । यदि न होते थे लिखे हुए शास्त्र या प्रकाशित शास्त्र तो हम आप कहांसे इनका ज्ञान विकास पाते ?

तो इसमें व्यय करें। अनेक ज्ञानके प्रसारके साधन हैं, धन पाया है तो ज्ञानके लिए व्यय करें, वचन पाया है तो इसको भी उपयोगमें लें जिससे ज्ञान प्रकाश मिले, ज्ञान विकासके लिए प्रेरणा मिले, अथवा ज्ञानवंतोंकी सेवा शुश्रृष्टा, रूप, वचन निकलें, यों वचनोंका सदुपयोग करें।

ज्ञानोपयोगकी साधनामें हित— तन, मन, धन, वचन ज्ञानके लिए

न्यौद्धवार हो जायें ऐसी जिसके भावना जगती है और यत्न होता है वह इस अभीक्षण ज्ञानोपयोगकी प्राप्ति कर लेता है। ज्ञानकी चर्चामें, पठन-पाठनमें, उपदेशमें, ज्ञानमय वचनोंके प्रोग्राममें अपना तन, मन, धन, वचन का व्यय करें तो यह भी ज्ञानोपयोगकी परम्परया सेवा है। जितना समय ज्ञान भावकी दृष्टिको छोड़कर अन्य पदार्थोंकी दृष्टिमें व्यतीत हो वहाँ अनुभव किया होगा कि आकुलताके सिवाय और कुछ नहीं पाया होगा। जितना समय निज ज्ञानस्वभावकी आराधनामें लगता है, लगा है, लगा होगा, अनुभव किया होगा उसका उतना समय अनाकुलतामें व्यतीत होता है यों प्रत्येक सम्भव उपार्थोंसे निरन्तर ज्ञानके लिए उपयोग बनाना यह अभीक्षण ज्ञानोपयोग है। ऐसे अभीक्षण ज्ञानोपयोगके धारी पुरुष जब जगत के जीवोंपर दृष्टिपात करते हैं तो उनके परमकरुणा उत्पन्न होती है। अहो ! ज्ञाननन्दमय तो यह स्वयं है। इस ओर उपयोगके मोड़नेके फल की बात यह है कि अनन्त आनन्द प्रकट हो सकता है, किन्तु इतना ही यह नहीं कर पा रहा है, इसकी ऐसी सद्बुद्धि जगे कि अपने आपकी और उपयोग हो, ऐसी परमकरुणा होने पर इस महाभाग पुरुषके तीर्थकर प्रकृतिका बंध होता है। तीर्थकर प्रकृतिके बंधके कारणोंमें से चार भाव-नाएँ समाप्त हुईं।

५—संवेग

संवेगभावना— अब ५वीं भावना संवेग भावना कही जा रही है। संसार, शरीर और भोगोंसे विरकिका नाम संवेग है। यह ही शांतिका कारण है, ऐसा जानकर संवेगका आदर होना संवेगकी भावना करना यह है संवेग भावना। संवेगका दूसरा अर्थ यह भी है कि धर्ममें अनुराग करना और धर्मके फलमें अनुराग करना यह भी संवेग कहलाता है अथवा इन दोनोंको जोड़कर वह अर्थ करना कि संसार, शरीर व भोगोंसे संवेग भावना।

धन वैभवमें अशरणता— अहो ! जगत्के ये जीव किस ओर अनु-

रागमें बढ़े हुए चले जा रहे हैं ? धन, वैभव, स्त्री, पुत्र इन सबमें प्रवान विषय बन रहा है आज कल धन, वैभवकी उपासना । इसकी तो उपासना ही विचित्र है । जिसकी उपासना करनेमें कष्ट है, जिसकी रक्षा करनेमें कष्ट है और जिसका अंतमें वियोग हो तो वियोगके समयमें कष्ट है । जिस धन वैभवके कारण निरन्तर शंकाएँ रहती हैं, जिस वैभवके कारण गुरु-जनोंका भी अविश्वास हो जाता है और अपमान किया जाता है, जिस धन वैभवके कारण अज्ञानना बढ़े, उद्घटना बढ़े, पाप कर्म प्रकट हों, उस धन वैभवके पीछे बेहतासा होकर भागे चले जा रहे हैं ।

पुत्रसंसर्गमें अनर्थ-- पुत्रकी बात देखो, पुत्र जिस समय गर्भमें आता है उस समय देखो स्त्रीकी सुन्दरता पुत्रने हर ली, पहिला आक्रमण तो पुत्रने यह किया, अपनी मां पर समझो या बाप पर समझो । स्त्रीकी सुन्दरता खत्म हो गयी और देखो— वे यों ही स्वयं क्षीण हो जाती है, दुर्बल हो, रक्त कम बने, कुछ वैसे ही पीलापन आ जाय, बड़े कष्टकी बात हो जाती है । लो पुत्रने पहिला आक्रमण यह किया । दूसरा आक्रमण है गर्भसे निकलते समयका । घरके सभी लोग चिंताप्रस्त हो जाते हैं । लोग सोचते हैं कि बड़ी सुविधापूर्वक प्रसव हो जाय, खैर मनाते हैं । लो तीसरा आक्रमण यह है कि वह बच्चा कुछ बड़ासा होता है तो अपने खाने में कमी कर ली जाती है और उसकी ओर अधिक दृष्टि दी जाती है । स्वयं बिना दूधके रह जायें, लो यह कितना बड़ा उस बच्चेका आक्रमण है ? चौथा आक्रमण है कुछ बड़ा हो जाने पर उसे न्यायमार्गमें लगानेकी चिंता रखना । बात न माने, अनीतिमें लग जावे, खोटे मार्गमें लग जाय उसकी परेशानी । यों आक्रमण बहुत हैं, कहाँ तक गिनतीका ख्याल रखें । नम्बर आप जोड़ते जाओ (हँसी) । उसके बादका आक्रमण है अब आजके जमानेमें पढ़ाईका खर्च बहुत बढ़ गया है । बी० ए० पढ़ रहे हैं तो १०० रु० महीना कमसे कम चाहिए, विलायत पढ़ने जाता है तो कमसे कम ५०० रु० महीना चाहिए या हजार समझलो कितने ही आक्रमण हैं । जब विवाह हो जाता है तो नया सनेह मिला, अब माता और पिताकी खबर भूल जाता है ।

अन्यमनस्कता— एक बार गुरुके पास एक शिष्य दो दिन बाद लेट पढ़ने आया तो गुरु पूछता है कि आज तुम लेट क्यों आये ? तो शिष्य कहता है— क्या करें, आज सगाईमें फंस गए थे । तो गुरु बोला कि अब तुम गांवसे गए । फिर कुछ दिन बाद ४-५ दिन लेट आया तो गुरुने पूछा कि लेट क्यों आये ? तो शिष्यने कहा कि शादी हो रही थी । अब गुरुने

कहा कि अब तुम घर से गए। फिर दो चार दिन बाद लेट आया तो फिर शुरुने पूछा— क्यों लेट करके आये तो बोला कि बाल बच्चे हुए हैं तो कहा कि लो अब तुम माता पिता से भी गए, अपने सुख से भी गए। तो देख लो जब सगाई हो जाती है तो स्वसुराल का गांव नजर में भरा रहता है। जिस गांव में पैदा हुआ है वह गांव न कुछ लगता है और जब शादी हो जाती है तो उसके लिए घर अपना कुछ नहीं रहा, स्वसुराल का घर ही सब कुछ हो जाता है, और बड़े भये, बाल बच्चे वाले तो माता पिता की भी सुध नहीं लेते। इतनी ही बात नहीं किन्तु अपमान किया जाता है, स्त्रीका पक्ष लिया जाय, पुत्रका पक्ष लिया जाय, माता पिता मन मसोस कर रह जाते हैं। कितनी आशा लगायी थी इस ललत पर माता पिता ने कि यह बढ़ा होगा तो सुख देगा किन्तु हो रहा है उल्टा।

कुटुम्ब संसर्ग में अशरण ता— भैया ! कहाँ अनुराग में बढ़े जा रहे हो ? अरे अपने परमात्म स्वरूप को तो भूल गए और अत्यन्त असार बातों में बढ़े चले जा रहे हैं। पुत्रकी यह कहानी है। स्त्रीकी भी विचित्र कहानी देखो, पिताकी भी विचित्र कहानी। ये सारे समागम अपने विषयक धाराओं की स्वार्थकी पूर्ति की नींव पर खड़े हुए हैं। सार तत्त्व कहीं कुछ नहीं है। कितना व्यामोह छाया है कि घर में उत्पन्न हुए दो चार लोग तो इसके बे हो गए सर्वस्व और उनको छोड़कर बाकी लोग तो निगाह पर भी नहीं टिकते हैं, वे गैर हैं यों माना जाता है, जबकि समस्त जीव अपने से अत्यन्त पृथक् हैं। जितने भिन्न कल्पित गैर लोग हैं उतने ही भिन्न कल्पित ये घर के लोग हैं तथा स्वरूप हृषि से देखो तो सर्व जीव एक समान स्वरूप वाले हैं। कहाँ अनुराग बढ़ाये जा रहे हो, यह संसार अनुराग के योग्य नहीं है।

शरीर में अनुराग की व्यर्थता— यह शरीर भी अनुराग के योग्य नहीं है, अशुचि है, असार है; हड्डी, चाम, मांस, खून इनसे ही तो यह शरीर बना हुआ है, और जैसी असार यह मूर्ति है ऐसी ही अशुचि तो ये सब मूर्तियां हैं। किनमें यश चाहते हो, किनमें नामवरी चाहते हो, किनको क्या बताना चाहते हो ? अरे खुद ही तो महासंक्लेश में पड़े हुए हैं, खुद की तो रक्षा नहीं करना चाहते और व्यर्थकी परवस्तु विषयक चिंताएँ लादे चले जा रहे हैं।

भोगोंकी असारता— भोगोंमें भी देख लो कौन सा भोग सारभूत है ? पंचेन्द्रिय के ५ विषय हैं और अटपट, गड्ढवड़, अनियमित विषय मन का भी कल्पित कुछ है। इन ६ विषयोंमें से कौन सा विषय ऐसा है कि

जिसके भोग लेनेके बाद यह निश्चय हो जाय कि अब इस दुःखसे अपन छूट गए। है कोई विषय ऐसा? छूटना तो दूर रहा, यों ही किसी भी विषयका चक्का लगता है तो उस विषयके भोगनेकी उत्सुकता और परम्परा बढ़ जाती है। सोचते तो यह है कि हम दुःखोंको मिटालें विषय भोगकर, किन्तु भोगनेके बाद वे दुःख और लम्बे बढ़ जाते हैं। ज्ञानी पुरुष सम्बेद भावनामें चिंतन कर रहा है। यह संसार, यह शरीर, यह भोग, ये समागम ये सब असार हैं, इनमें राग करने से विडम्बना ही बढ़ती है।

जीवनकी व्यर्थयापना-- दो भाइ थे। उनमें एक भाई गुजर गया। वह बी० ए० तक पढ़ा था। सविस हुई, पेन्शन मिली, अच्छी उम्मीद पाकर गुजरे तो लोग उस दूसरे भाई को समझाने आये थे। किसी ने यह भी पूछा कि भाई तुम्हारा क्या कर गया, याने मरते समय कुछ धर्म दान पुण्य कर गये कि नहीं, अपने लिए भी कुछ लाभ ले गए कि नहीं? यों पूछने पर भाई जवाब देता है—‘क्या बतायें यार क्या कारोनुमाया कर गए। बी० ए० किया, नौकर हुए, पेन्शन हुई और मर गए।’ सभी अपनी-अपनी बात घटा लो, व्यापार करनेकी कला सीखी, धन भी कमाया, बूढ़े हुए और मर गए। उनके बारेमें भी तो यही उत्तर है— व्यापारकी चतुराई सीखी, व्यापार किया, बूढ़े हुए और मर गए। क्या साथमें लेकर गए? अरे साथमें लेकर जानेकी बात तो दूर रहो शांति पूर्वक मर भी नहीं सके। एक-एक पदार्थको सामने रखकर विचार करलो कि वह पदार्थ मेरे हितमें कहां तक साधक हो सकता है? यह तो है कुदुम्बियोंकी कहानी। अब मित्रकी भी बात देखो।

मित्रोंकी कहानी— मित्र उसीको कहते हैं जो दुनियामें विषय-कषायोंमें उलझाये रखें और विषय-कषायोंकी उलझन बढ़ा सके, उसका नाम है दोस्त, मित्र। खूब परीक्षा करके देखलो। अरे दोस्त वही तो सुहायेगा जो मेरे मनके विषय कषायके माफिक, अपने विचार बताये, सराहना करे, हां तुम खूब करो कषाय। तुम यह विषय खूब भोगो, हां बात तो तभी है जब कि ऐसा हो जाय। ठीक है करो कषाय। जो विषय कषायोंमें उलझाए वह बड़ा प्यारा लगता है, बड़ा दोस्त जंचता है और जो विषय कषायोंसे निवृत्तिकी बात कहे वह तो उसे बैरी सा जंचता है। यह हमारा विरोधी है, यह हमारा भला नहीं चाहता, यों है यहांके दोस्तोंकी कहानी। यों यहां के दोस्त व्यसनोंके पापोंके सहकारी हैं। जहां तक स्वार्थ सधे वहां तक इसकी मित्रता है। निर्धनता होने पर फिर वही मित्र सम्भाषण भी नहीं करता है।

विषयोंकी क्लेशकारिता — अन्य भी कौन सी बात है जिसमें कुछ सार नजर नहीं आता। यश और नामवरीकी भी बात देखो, क्या है उस यश और नामवरीमें। प्रथम तो यश नामवरीके खातिर अपने तन, मन, धन, वचन सबको बरबाद कर दिया जाता है, अम किया जाता है, लोग खुश रहें ऐसी मनमें दीनता बसी रहती है! ऐसे दीनता भरे आशयसे कभाये हुए यशमें यदि किसी दिन थोड़ा धब्बा लगे तो प्राण गंवाने पर ही छुटकारा मिलता है। अपने सद् आचरण से चलें और उसमें जो कुछ होता हो, होने दें, पर जानबूझ कर नामवरीकी चाह करे कोई तो उसे बिडब्बनाएँ और विपत्तियोंके सिवाय कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। कौनसा भोग ऐसा है जो कि सारभूत हो। सब जानते हैं। हम दुःखी भी हो जाते हैं और उस दुःखके उपायसे छूटनेकी मनमें चाह भी नहीं करते हैं। क्या करें, कैसा चक्का लगा है? तेज लाल मिर्च खाते भी जाते हैं, सी सी करते भी जाते हैं, आंखोंसे आंसू बहते भी जाते हैं और मांगते जाते हैं कि चाट पकड़ीमें और लाल मिर्च ढालो, यों ही इन विषयक बायोंके दुःख भोगे जाते हैं और इन विषयोंकी ही मांग करते जा रहे हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुष संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त रहा करते हैं।

विषयसंताप — जगत्के प्राणी जिन इन्द्रिय विषयोंमें लुभा रहे हैं वे ही अपने प्रभुस्वरूपको भुला देने वाली, तृष्णाको बढ़ाने वाली व असंतोष के उत्पन्न करने वाली हैं। जैसे ईधन डाल-डाल करके आगको संतुष्ट नहीं किया जा सकता है, जितना ईधन डाला जायेगा उतनी ही आग बढ़ेगी, कभी आग यह न कहेगी कि बस अब पेट भर चुका है, इसी प्रकार इन भोग विषयोंके भोगने से कभी तृप्ति नहीं आ सकती है। भोगोंसे तृप्ति तो इस ज्ञानबलके होने पर आ सकती है। भोगोंसे विरक्तिमें ही तृप्ति हो सकती है, विषयके आतोपके सामने इन तीनों लोकोंमें आताप कुछ नहीं है। जिन्हें अपने कल्याणकी इच्छा हो उन्हें चाहिए कि विषयोंसे पराड़ मुख रहें और निज ज्ञानकी ओर दृष्टि करें, जिनके खातिर न्याय अन्याय नहीं गिने जा रहे हैं वे इसके पापोदयमें कभी सहायक नहीं हो सकते हैं। यों संसार शरीर और भोगोंसे सहज ही जिनके विरक्ति है ऐसे ज्ञानी पुरुष ही इस जीवके परमकरुणाका भाव करके तीर्थकर प्रकृति का धंघ करते हैं।

बाह्यमें सर्वत्र अरम्यता — इतनी बात तो प्रकट ही है कि यहां कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें रमा जाय। कौनसा पूर्वार्थ समागममें आया हुआ नित्य रह सकता है? जो आये हैं वे सब विलगेंगे, जिनका संज्ञे-

हुआ है उनका नियमसे वियोग होगा, जिनका वियोग हुआ है उनका संयोग मिले या न मिले उसमें दोनों ही सम्भावना हैं, परन्तु जहाँ संयोग है वहाँ वियोग नियमसे है, यह अकाट्य नियम है। जो पुरुष संयोगमें हर्ष मानते हैं उन्हें वियोगमें संक्लेश होता है। यह बड़ी तपस्या है कि समागममें रहते हुए, संयोगमें रहते हुए हर्ष न मानना और यह ज्ञान बनाए रहना कि एक दिन ये भी बिछुड़े गे, ऐसा ज्ञान जिन ज्ञानी पुरुषोंके बना रहता है वे कभी दुःखी नहीं होते हैं, वस्तुके रवरूपके परिज्ञानसे जहाँ च्युत हुए वहाँ क्लेश है।

विशुद्ध ज्ञानमें क्लेशका अभाव— वस्तुतः कोई क्लेश नहीं है। अपनो बुद्धिका विपरीत चलना यही क्लेश है। कभी घरमें लड़के लोग आज्ञा न मानें तो वहाँ क्लेश होता है। अरे जगत्‌में अनन्ते जीव हैं, उनकी तो कुछ खबर ही नहीं है। घरमें आये हुए जीवोंके प्रति ख्याल बना कर क्लेश होता है। क्लेश तो यों है कि मान रखा था कि मैं जैसा चाहूँ तैसा इनका परिणाम होगा, यों विपरीत शब्द होने से क्लेश होते हैं। यदि यह बात चित्तमें आ जाय कि—‘होता स्वयं जगत् परिणाम। मैं जगका करता क्या काम !!’ घरमें रहें, बहुतसे काम करें, कमायी करें पर चित्तमें ऐसा परिणाम बनाएँ तो वहाँ क्लेश नहीं होता है। ऐसे विशुद्ध ज्ञानका होना ही अमृत तत्त्व है।

अमृतस्वरूप— लोग कहते हैं कि अमृतका पान करलो तो अमर हो जाओगे। वह अमृत पनीला है या कड़ा है, या गोलमटोल है, किसी ने देखा है क्या कि अमृत ऐसा होता है? कुछ अंदाज करो कि अमृत कैसा होता होगा? अरे अमृत नामका कोई पदार्थ नहीं है जिसको गलेसे उतार दो तो अमर हो जाओगे। फिर बात क्या है? बात यह हुई थी कि पहिले ज्ञानीपुरुष होते थे, वे जानते थे कि यह अमृत है और यों इसका पान किया जाता है और अमृत पान करले तो यह जीव नियमसे अमर हो जायेगा। आप कहेंगे कि वही बात फिर दुहारायी जिसको अभी मना कर रहे थे। देखो अमृत शब्दका अर्थ क्या है? न मृतं इति अमृतं। जो मरे नहीं वह अमृत। जो खुद न मरे, खुद न नष्ट हो वही तो अमृत हो सकता है। मुँहसे चबाकर, गले से उतारकर पी डाला तो वह तो खुद ही मर गया। जो खुद अमर नहीं है वह दूसरेको अमर कैसे कर सकता है? तो खोज लो अमृत क्या हैं जो कभी नष्ट न हो सदा साथ रहे। अन्तर्दृष्टि करके निहारो, वह अपना ज्ञानस्वरूप ही अमृत है और उस ज्ञानस्वरूपका पान किया जाता है ज्ञानके ही द्वारा। ज्ञान द्वारा ज्ञानस्वरूपका ज्ञानस्वरूप

अमृत पान करने से यह जीव नियम से अमर हो जाता है।

अमृतपान की पात्रता— अमर तो यह जीव था ही पर विश्वास न था कि मैं पैदा हुआ, शरीर का बिछोह हुआ तो समझ लिया कि मैं मर रहा हूँ, बस इसी समझ से वह मरता और जन्मता चला जाता है। यह अमृतपान कब हो सकता है, जब संसार शरीर और भोगों से विरक्ति हो। ऐसी पात्रता जिनमें होती है ये तीर्थकर प्रकृतिका बंध कर लेते हैं। जो चीज अरक्षित है, नष्ट हो जाने वाली है उसमें ममता करनेका फल क्लेश ही है। नष्ट हो जाने वाली चीजकी उपेक्षा रहना, पहिले से ही अपनेको पृथक् रखना, सो ही दुःखसे मुक्त होनेका उपाय है। यही तो सब संयोगभावना है। वैराग्य होना और ज्ञानस्वभावमें अनुराग होना इस ही भाव का नाम है संयोग। इस संयोगकी निरन्तर उपासना करो, विषयोंसे विरक्ति करो और धर्मसे अनुराग करो।

यथापद धर्मपालन— धर्म पात्रता और पदबीके अनुसार अनेक रूपोंमें किया जाता है, फिर भी उन सब रूपोंमें धर्मकी मूल बात एक ही रहेगी। सर्वजीवोंकी दया पालना यह भी धर्म है। वस्तुका जैसा स्वभाव है उस स्वभावका यथार्थ श्रद्धान्, ज्ञान, आचरण होना यह भी धर्म है। अत्मामें क्षमा, मार्दव, आजूब आदिक १० विशुद्ध परिणामोंका प्रवेश होना यह भी धर्म है। अब जो जिस प्रकारकी योग्यता वाले हैं उनको समझानेके लिए धर्मका वह रूप समझाया जाता है पर अंततोगत्वा यह धर्म है, जो मेरा स्वभाव है। चिन्मात्र उस चैतन्यस्वरूपका संचेतन करना, संकल्प विकल्प जालोंसे मुक्त होना इसको ही धर्म कहते हैं। धर्म कहते उसे हैं जो दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम सुखमें धारण कराये। कौन है ऐसा पुरुष जो दुःखसे छुड़ाकर सुखमें ले जाये? भगवान् की हम क्या आशा करें, वे समस्त विश्वक निरन्तर जाननहार रहते हैं, किन्तु वे स्वयंके ही आनन्द-रसमें लीन रहते हैं। हम ढोलक, झाँझ, मृदंग आदि बजा-बजाकर भगवान् के पास आवाज पहुँचाना चाहते हैं पर वहां आवाज नहीं पहुँचती है और कदाचित् वहां आवाज पहुँच भी जाये तो वे अतोन्द्रियस्वरूप हैं। वे इम्दियों द्वारा इन शब्दोंका जानन ही नहीं किया करते हैं। उनसे तो इनना ही लाभ है कि मैं भगवान् के उस शुद्धस्वरूपको निहारूँ तो बिषय-कषायोंकी विपदा दूर होगी और अपने शुद्ध-ज्ञायकस्वरूपका परिचय मिलेगा। यह लाभ साधारण लाभ नहीं है, बहुत बड़ा लाभ है।

धर्मकी संगतिमें प्रभाव— विषयोंसे विरक्ति होकर धर्ममें अनुराग हो इसका ही नाम सम्बेद है। लोकमें जो कुछ भी उपादेय ठाट देखे

जा रहे हैं, पुराणोंमें चक्रवर्ती तीर्थकर आदिक जितने महापुरुषोंके ठाट समझे जाते हैं वे सब धर्मके फल हैं, और धर्मके भी फल नहीं किन्तु धर्म के साथ-साथ रहने वाला जो यह रूप है उस रागके फल हैं। धर्म तो मुक्ति का ही कारण है, वह सम्पदाका कारण नहीं है, किन्तु धर्म करने वाले जीवके साथ जो कुछ भक्ति, अनुराग, परोपकार, दयाभावरूपी राग रहता है उन रागोंसे ऐसा पुण्य बनता है कि ये संसारके ठाट और चमत्कार उसे प्राप्त हो जाते हैं। जैसे समझो बड़े डिप्टीके कलर्कमें भी बहुतसी पावर और योग्यताएँ हैं, यों ही जानों कि धर्मराजके साथ रहने वाला जो राग है उस रागमें भी बहुतसी योग्यताएँ और प्रभुत्व हैं। तब धर्मकी तो बात ही क्या कहें ?

प्रतिसमृद्धि— भैया ! जिनने क्लेश हैं, वे सारे क्लेश धर्मभावके कारण एक साथ तभाम हो जाते हैं। जैसे किसान अनाज प्राप्त करनेके लिए खेती करता है और उस खेतीमें भुस अनायास ही बड़ी विपुल राशि में प्राप्त हो जाता है यों ही मुक्तिके लिए धर्म किया जाता है और धर्म करते हुएमें जो बड़ी सम्पदा मिली, ऐश्वर्य मिला, चला मिली, इज्जत मिली, रूप मिला, ऋद्धि मिली ये सब भुसकी तरह अनायास ही स्वयं प्राप्त हो जायेंगे। ज्ञानी पुरुषके चमत्कारोंमें आस्था नहीं है किन्तु उस शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके अनुभवसे जायमान आनन्दके अनुभवमें आस्था है। यह कथनी दूसरेकी न समझिए खुदमें घटाते चलो, खुदके लिए ही ये सब बातें सुनिये।

उल्टा बहाव— अहो ! किस ओर बहे जा रहे हैं लोग, जिस संसार, शरीर और भोगोंकी ओर लगे जा रहे हैं उनमें रंच भी हित नहीं है। योगासक्त पुरुषोंको ज्ञानी संत पुरुषोंकी बास नहीं सुहाती है। वे जानते हैं कि चतुर तो हम ही हैं। यह कहा है सो ऐसा कहा जा रहा है। यह एक धर्मकी विधि है। किन्तु यह स्वयं अपने आपके ज्ञानबलसे अपने आपको टटोले तो इसे खबर पड़ जायेगी, अपने आपका महत्व ज्ञात हो जायेगा। जैसे कोई पुरुष किसी लड़केको बहका दे, आगे कोई कौवा उड़ रहा हो और वह पुरुष कह दे कि देख तेरा कान कौवा ढे गया, तो वह लड़का उस कौवेके पीछे दौड़ता है। लोग समझते हैं, अरे कहाँ दौड़ते हो ? तो वह लड़का कहता है अरे ठहरो, अभी यत बोलो, मेरा कान कौवा ले गया। अरे कहाँ ले गया है ? ले गया है, छुक्से बड़े लोगोंने कहा है। अरे जरा आपने कान टटोल कर तो देख दें, किर दौड़ लगा। वह कान पर हाथ परता है तो कहाँ कौवा ले गया था, कान तो दोनों ही

संवेग-५

वहीं चिपके थे । यों ही ये जगत्के प्राणी रिश्तेदारोंके, मित्रोंके बहकाये हुए ए अथवा अपने विषयसाधकोंसे बहकाये हुए दौड़े भागे जा रहे हैं । खूब धन कमायो, खूब बढ़िया खावो, मोटर रक्खो, ऐसा मकान बनवावो, ऐसे शृंगार बनवावो, ऐसे अंगोंको सजावो, ऐसे भोग और विषयोंसे बहके चले जा रहे हैं ।

ज्ञानी संतों द्वारा प्रतिबोधन— ये ज्ञानी ऋषि संत आचार्य समझाते हैं— अरे कहां भागे जा रहे हो ? नहीं सुनता है इनकी बात । स्वाध्याय करनेका १० मिनटोंको भी मौका नहीं मिलता, यही तो न सुननेकी बात है । इन ऋषि संतोंकी पुकारको यह नहीं सुन रहा है भोगसाक्त पुरुष और कह रहा है कि तुम चुपके बैठो । तुम्हें क्या मालूम ? मेरा सुख इन विषयों में है, भोगोंमें है, मेरा आनन्द इन परपदार्थोंमें है । इन्हें हम कैसे छोड़ दें ? इन परपदार्थोंसे ही अपने आनन्दकी आशा करके दौड़े चले जा रहे हैं । ये अव्यात्मपुरुष शास्त्रोंमें समझा रहे हैं कि अरे कुछ इन्द्रियोंको संयत करके अपने आपको निहारो और तुम्हें तुम्हारा आनन्द न मिले तो भागे चले जाना । कोई विवेकी पुरुष, विश्वासी पुरुष जिनका गुरुजनों पर अदृट विश्वास है उनके कहे माफिक इन इन्द्रियोंको संयत करके अपने आपमें टटोलते हैं तो उन्हें अनुभव जगता है, ओह ! यह ही तो मैं ज्ञान-नन्दस्वरूप हूँ । मेरा आनन्द बाहर गया कहां ? जो पुरुष विषयोंसे विरक्त होते हैं और सहज ज्ञानस्वरूप निज अन्तस्तत्त्वके रुचिया बनते हैं, ऐसे पुरुषोंके यह सम्वेगभाव प्रकट होता है ।

संवेग और संवेगका फल-- इस सम्वेगभावनाके फलमें अपने आपके शुद्ध आनन्दका बारबार अनुभव होता है, और जब-जब सधर्मीजन होते हैं तो उनको देखकर प्रमोदभाव होता है । वन्य है सधर्मीजन मिलने की घड़ी । वे उस क्षणको धन्य मानते हैं जिस क्षण रत्नत्रयके धारी मोक्ष-मार्गके रुचिया जन मिलते हैं । साथ ही वे भोगोंसे सहज ही विरक्त रहा करते हैं, ऐसे पवित्र ज्ञानके उपवासी संतपुरुष जब अन्य जीवों पर दृष्टि देते हैं तो कुछ विषाद् भरा अनुराग होता है । ओह ! जरा ही तो अपने उन्मुख होना है कि सारे संकट इसके टल जाते हैं । केवल एक मुखके मोड़ में ही संसार और मुक्तिका अन्तर है । जहां इस समय पोठ है वहां मुख करना है और जिन बाध्यपदार्थोंकी ओर मुख किए हैं वहां पीठ करना है । इनना ही करनेके पश्चात् कल्याणके लिए जो सम्वेगभावना हो जाती है उस भावनाका आदार करें । अपने चित्तसे यह श्रद्धा हटावो कि धन वैभव ही मेरे सब कुछ हैं । अरे वे तो धूलकी तरह हैं । क्या तत्त्व उनमें रक्खा

है। वे सब बाह्य हैं, भिन्न हैं, पुद्गल हैं, अहितरूप हैं, जिनका विषय करने से तृणाका रोग उत्पन्न होता है। यों भोगोंसे विरक्त होकर, निजस्वरूपमें अनुरक्त होकर संवेगभावनाको धारण करें जिससे निकट कालमें ही इस संसारके सारे संकटोंसे मुक्ति मिल सकेगी।

६—शक्तिः त्याग

शक्तिस्त्याग भावना— तीर्थकर प्रकृतिके बंधके कारणोंमें आज छठवाँ भावनाका वर्णन चल रहा है। इस भावनाका नाम है शक्तिः त्याग। शक्तिके अनुसार त्याग करनेकी भावना होना, लोकमें जितने भी क्लेश हैं वे सब ग्रहण-ग्रहणके हैं। अपना धर समझा, अपना धन वैभव समझा, विवाह किया, पुत्र हुए, मित्र गोष्ठी बनाया, लोकमें इज्जत चाही, ग्रहण ही ग्रहण तो यह संसारी जीव करता है, जब कि शांति त्यागमें है। सो शांति के उपायका यह उद्यम नहीं करता। यह जीव बाहरमें तो सबसे, बाहरकी वस्तुओं से तो अलग है ही, त्याग किसका करना है? बाह्यवस्तुओंको तो यह जीव ग्रहण ही नहीं कर सकता है। जिसको ग्रहण नहीं किए हुए है उसके त्यागकी कथा बात कहें, पर अपने आपके अंतरंगमें जो विषय कषायोंकी इच्छाका परिग्रहण किए हुए है उसका त्याग करना होता है। जो अन्तरके विभावोंका त्याग नहीं करता वह बाह्यपदार्थोंका त्याग करके भी अधरजमें रहता है। उसने धर छोड़ा, वस्त्र भी छोड़ा, त्यागी भी बने, साधु भी हुए पर चैन नहीं पड़ रही है। अरे बाह्य चीजोंके त्यागमें चैन मिले ऐसा नियम नहीं है किन्तु अंतरङ्गमें जो विभावों का परिग्रहण किया है उसका त्याग हो तो नियमसे चैन हो।

परमार्थरूप शक्तिस्त्यागसे संकटोंका विनाश— इस जीवपर कितना महान् संकट है, कहां संकट है? बाहरमें नहीं दिखेंगे संकट। बाहरमें कहींसे भी कुछ उपद्रव नहीं आ रहा है। अपने आपके अंतरंगमें ही कुछ सोच रहे हैं, कुछ कल्पना कर रहे हैं वस यही संकट बन रहे हैं। संकट कुछ नहीं है। जिस लोकमें बड़े-बड़े महापुरुष भी नहीं रह सके उस लोकमें यह अज्ञानी पुरुष मूढ़ अपना कीर्तिस्तम्भ गाढ़कर जाना चाहता है, अपना नाम यह रोशन करके जाना चाहता है। अरे तेरा नामसे क्या सम्बन्ध है और यह दो अक्षरोंके नामका रोशन भी हो आय तो इससे तेरे आत्माको क्या लाभ है? तु अंतरंगसे स्वच्छ चित्त होकर अपने आपमें से सभी विभाव भावनाओंको हटा दे। शक्ति न छिपाकर वास्तविक त्याग कर फिर शांति न मिले तो कहना शक्तिः त्यागका यह अर्थ नहीं है कि शक्ति

के अनुसार त्याग करे अर्थात् शक्तिसे ज्यादा न करे, अर्थात् शक्तिसे ज्यादा न करे उसमें बहुत ही कम करे। ज्यादा न करे, शक्तिके बराबर भी न करे, कम करे ऐसा लोग अर्थ प्रसिद्ध कर लेते हैं, पर इसमें बात यह बसी हुई है कि तुम्हे आत्महितकी इच्छा होती है तो शक्ति न छिपाकर पूर्ण बोलके साथ त्याग धर्ममें है।

वास्तविक त्याग— वास्तविक त्याग है आभ्यन्तरके विषय क्षणायों का त्याग। अंतरङ्गमें आशय स्वराव बने, खोटी दृष्टि हो जाय इससे बढ़कर अयंकर कोई विषदा नहीं है। कौन है सहाय इस लोकमें? कौन बचा देगा मुझे दुखोंसे? और बात तो जाने दो सिरदर्द भी हो जाय तो कितना ही कोई प्रेमी हो, मेरे सिर दर्द तकको भी कोई बांट नहीं सकता और किसका क्या सहारा लें? जो अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूपको देखता है और तन्मात्र अपने आपमें उपयोग करता है उसके स्वयमेव त्याग हो जाता है। यहां यह बात नहीं समझना कि भीतरका त्याग चाहिए, बाहरका त्याग हो चाहे न हो। जो भीतरसे त्याग करेगा वह बाहरमें ग्रहण क्या करेगा? उसके अंतरङ्गमें त्यागका आशय कम है और बोलते त्यादा हैं इसलिए बाह्य परिग्रह रखकर भी अपने अंतरङ्गकी सफाई जाहिर करता है।

यथार्थज्ञानवृत्तिमें त्यागवृत्तिका उपचार— सैया! बाह्य वस्तुओंको अपना मान लेना यह तो है ग्रहण और बाह्य वस्तुओं को अपना न मानना यह है त्याग। पदार्थ तो जहां पड़े हैं पड़े हैं, उन्हें छोड़कर भागें कहां? लो धरको छोड़कर चले आये दूसरी जगह अथवा जंगलमें आ जाय, धन वैभव हृपया पैसा भी छोड़ा, इन सबको छोड़कर बाहर आगये, क्योंकि वे सब परद्रव्य हैं और शरीर यह भी तो परद्रव्य है, जब जीव चला जाता है तो यह शरीर इस जीवके साथ कहां जाता है? शरीर तो यहीं पड़ा रहता है, यह शरीर तो नियमसे छूटेगा। इसका क्यों नहीं त्याग करके आता? खैर यह शरीर छोड़ा नहीं जाता तो कुछ परवाह नहीं, पर अंतरङ्ग में ज्ञान प्रकाश तो लावो कि यह शरीर मेरा नहीं है, यह शरीर मैं नहीं हूं। मैं तो आकाशवत् अमूर्त निलेपं शुद्ध ज्ञानमात्र हूं। तुम्हे शांति चाहिये तौ तू इस दुनियासे आंखें मींच ले, ऐसा जान जा कि इस दुनियामें मेरा पहिचानहार दूसरा कोई नहीं है।

लोकपरिचयका भ्रम— इस व्यामोही जीव को इस ही बातका तो क्लेश होता है कि मेरे पहिचानने वाले लोग मुझे क्या कहेंगे? इनमें मेरा अपमान हो गया या इनमें मेरा सम्मान क्यों नहीं बढ़ता? और ये सब अपरिचित हैं, तेरे आत्माको जानने वाला यहां कोई मर्ही है और कदा-

चित कोई जान जाये तो वह आत्मस्वरूपको जान गया । वह व्यक्तिभेद करके तो नहीं जान रहा, फिर सम्मान क्या और अपमान क्या ? तू तो गुणपर्यायात्मक है । तेरी ही शक्ति तेरा ही गुण तेरा ही परिणामन तेरा ही सब कुछ तुम्हारे है । इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी तुम्हारे नहीं है । तू तो सूना है, कोई भी परपदार्थ अथवा कुछ भी पर भाव तेरे स्वरूपका नहीं है । तू तो बिल्कुल सूना है और भरा पूरा भी इतना अधिक है कि तू विज्ञानघन है । तेरे आत्मक्षेत्रमें एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है जो ज्ञान और आनन्दसे रिक्त हो । ऐसा तो तू भरा पूरा है और ऐसा तू पूरा सूना है । तेरे इस विराटरूपको तेरे ही अद्भुत स्वरूपको विरला ही ज्ञानी संत पहिचान सकता है । यह भ्रम क्षोड़ दे कि मुझे पहिचानने वाले इस लोकमें सैकड़ों पुरुष हैं, एक भी तुम्हे जानता नहीं है ।

आत्मोद्धारमें त्यागका प्रमुख सहयोग— जितनी भी कल्पनाएँ प्राणी करते हैं वही सब परिमह हैं, वही ग्रहण हैं, वही बैचैनीका कारण हैं । तू अपने जीवनमें दिन रातमें किसी भी मिनट तो ऐसा अनुभव कर कि मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ । यही त्याग है परमार्थसे । और इस परमार्थसे जो त्याग है इसको रखनेके लिए, ढढ़ करनेके लिए तू बाह्य विषय कषायोंकी प्रवृत्तिको भी कम कर, त्याग दे । त्याग बिना किसीका उद्धार न होगा । चाहे कोई कभी करे, जब तक त्याग नहीं करता है तब तक विपर्चियोंमें ही तो रहेगा । जैसे किसी पक्षीको कोई भोजन मिल जाय, कोई दुकड़ा मिल जाय तो उस पर अनेक पक्षी टूट पड़ते हैं, वह पक्षी परेशान हो जाता है । अरे जिसको ग्रहण किया है उसे त्याग दे तो एक भी पक्षी इसे सताने को न आयेगा । ये मोही मनुष्य अपने परिणामों में बाह्यवस्तुओंको पकड़े हुए हैं अर्थात् कल्पनाको जकड़े हुए हैं । अरे किन से तू अपने को भला कहलवाना चाहता है ? क्या है कोई संसारमें ऐसा व्यक्ति जिसको शतप्रतिशत सभी मनुष्य भला कहने वाले उसके जमानेमें भी हीं या आगे पीछे भी हीं । भगवान तकको तो भला कहने वाले [शत-प्रतिशत नहीं हैं । हम आप लोगोंकी बात तो दूर रही । किसको ग्रहण करते हो, किसके लिए ग्रहण करते हो ? अपने आपके स्वरूपको देख और जो भिभावोंका ग्रहण किया है उनको तज ।

भ्रमका बोझ— त्यागमूर्ति निज आत्मतत्त्वके आहर बिना इस जीव ने अपने आपको नहीं जाना और अपने को किन-किन रूप माना यह बताया भी नहीं जा सकता है । जिन-जिन पर्यायोंमें रहा है, कीड़ा मकौड़ा पशुपक्षी जिन-जिन पर्यायोंमें रहा है उन-उन पर्यायोंरूप अपने को माना है

और उन पौद्वगलिक विशेषताओंको अपनाया है। ये ही सब परिग्रह हुये, ये ही ग्रहण हुये। मैं बलवान् हूँ, धनी हूँ, निर्धन हूँ, गोरा हूँ, सांवला हूँ, लड़वा हूँ, इतने कद वाला हूँ, ऐसा ज्ञानी हूँ, ऐसी इच्छत वाला हूँ, इतना पढ़ा लिखा हूँ, - कितनी ही प्रकारकी इस जीवने अपने आपमें कल्पनाएँ कीं। मूलमें देखो तो यह एक ज्ञान शक्तिका पिण्ड है। कैसा है यह? यह तो पतलेसे पतला बनकर अनुभव किया जा सकता है, अर्थात् बाह्य-पदार्थोंकी जो कल्पना कर रखती है उससे अपनेको कुछ बोझल बना रहे हैं, मोटे, ताजे हो रहे हैं, अन्तरमें बोझा बाले बना रहे हैं। उस बोझेको फेंककर सूखमसे सूखम बनकर केवलज्ञान प्रकाशमात्र अपनेको अनुभव कर सकें तो जान सकेंगे कि यही मेरा वास्तविक स्वरूप है।

परग्रहणमें शान्तिकी आशाका अभाव— अहो! यह जीव कितना ग्रहण किए हुए है, कितना ग्रहणके ग्रहमें जकड़ा हुआ है, धन वैभवके नाश होनेको अपना नाश मानता है, शरीरके नाश होनेको अपना नाश मानता है, अरे ये तो योग हैं, कर्मके सुयोग हैं। जब जो कुछ हो गया, निमित्तनिमित्तिक भावसे ही गया, उसमें तेरी क्या कला है? तू तो केवल भाव ही कर सकता है। भावोंसे अतिरिक्त अन्य कुछ करनेमें समर्थ नहीं है। यह जीव तो मोहवशा, ध्रुमवशा कैसा विकारोंमें लगा है, इसकी कहानी बहुत अगाध है। इसके निर्णयमें क्या जानते हो? प्रथम ही बात देख लो कि हम कितने गिरे, पतित, दुःखी, बेचैन, बंधनवद्ध हैं। आब यह उपाय सोचो कि हम कैसे इस परंतत्रासे युक्त हों? वैभव जोड़कर एकभवका कल्पित चैन पा लिया तो क्या कर लिया? कौनसा बड़ा पुरुषार्थ कर लिया? प्रथम तो इस ही भवकी आशा नहीं है कि वह परिग्रह तुम्हारे सुखका कारण बनेगा। ज्ञान है तो आनन्द है, ज्ञान नहीं है तो आनन्द नहीं है।

परिग्रह पिशाच— जिसके पास जितना जो कुछ परिग्रह है उस परिग्रहके सम्बन्धसे क्या हाल हो रहा है? अन्तरमें कितनी आकुलता मचाये हुए हैं? इन सब बातोंका अपने आपसे परिचय पा लो कि परिग्रह शांतिका कारण है अथवा अशांतिका कारण है। जब तक अंतरङ्गमें मिथ्यात्म, क्रोध, मान, माया, लोभ इन विषयकशायोंके परिग्रहका त्याग नहीं होता तब तक इस जीवको शांति नहीं प्राप्त हो सकती है और ऐसा करनेके लिए परिग्रहका त्याग करना होगा। गृहस्थावस्थामें परिग्रहका परिमाण करना होगा। परिग्रहका परिमाण नहीं है तो तृष्णाका इतना प्रसार रहेगा कि कभी चैन मिल ही नहीं सकती और तृष्णाके रोगमें ग्रस्त होकर

वर्तमानमें भी जो कुछ मिला है उससे सुख नहीं पाया जा सकता है क्योंकि दृष्टि तो जो अनागत है उसकी ओर लगी है। इतना और और बन जाये, इतना और मिल जाये इस ओर दृष्टि लगी है। इस कारण वर्तमानमें जो कुछ समागम मिला है उस समागमका भी यह सुख नहीं प्राप्त कर सकता है। विकल्पोंको त्यागे, परिग्रहका परिमाण करे, परिग्रहको त्यागे और अंतरंगमें अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करे, धर्मचर्चामें समय बिनाये। ज्ञानकी बात अपने उपयोगमें बसाये, ये सब ही तो त्यागधर्म है। त्याग-धर्म किए बिना शांतिके स्वप्न देखना केवल एक बेहूदापन है। हो ही नहीं सकती है शांति इस तरहसे।

त्यागधर्मके लिये श्रावकोंमें दानकी वृत्ति— गृहस्थावस्थामें अपनी शक्तिके अनुसार दान करना यह भी त्याग है। इस मोही जीवको त्याग करनेमें उत्साह नहीं है या दान करनेमें उत्साह नहीं जगता। छोटी-छोटी बातोंका अथवा रोज़-रोज़की प्रयोगमें आने वाली बातोंमें कुछ-कुछ त्याग करते रहना यह बहुत महत्व रखता है। त्याग कहो अथवा दान कहो, श्रावकोंके करने योग्य चार प्रकारके दान कहे गये हैं— आहारदान, शास्त्र-दान, औषधिदान और अभयदान। अविरति सम्यग्दृष्टि तो जघन्यपात्र है और देशत्रीजन मध्यमपात्र है और मुनिजन उत्तमपात्र हैं। जो मोक्षमार्ग में लगे हुए हैं ऐसे पात्रोंको चार प्रकारका दान करना यही है मोक्षमार्ग विषयक उत्तम त्यागधर्म। त्याग भावनामें, शक्तितः त्याग व दान करते हुए बड़ा विवेक होना चाहिए। हम पात्रको आहार दें तो ऐसा दें कि आहार का प्रयोजन है शरीर स्वस्थ रहे। यह पात्र अपने धर्म स्वाध्याय सबमें सावधान रह सके। केवल स्वाद दिलानेका प्रयोजन नहीं है, अथवा बहुत ऊँचे-ऊँचे पकवान १०-२० बनवायें और सूब खिलायें यह प्रयोजन नहीं है। इस प्रयोजनसे देखिये कि शरीर स्वस्थ रहे, बल बढ़े, रस बने, साधानी रहे, अपने काममें यह सावधान रह सके, ऐसी सब बातोंको निरख कर आहार दान दिया जाता है।

दूसरा दान शास्त्रदान, ज्ञानदान है। उससे बढ़कर और क्या दान कहा जाये, जिस दानके प्रतापसे यह जीव अज्ञानांधकारको दूर करे और ज्ञानप्रकाश पाये, जिससे संसारके बंधन अनन्तकाल तकके लिए छूट जायें, फर कभी बंधनमें न आ सकें। ऐसी बात किसीके बननेमें निभित्त पड़े अर्थात् ज्ञान दान दे, शास्त्र दान दे तो इस दानकी महिमाको कौन बता सकता है, जो सदाके जिए संकट छुटा दे उसकी कौन महिमा कह सकता है? औषधिदान और अभयदान भी आहारदानकी तरह प्रयोजन हैं।

श्रावक और साधुवोंमें त्यागवर्म पालनेकी पद्धति— यों श्रावक तो परिग्रहका परिमाण करके और पाए हुए समागमसे यों परोपकारमें वित्त-रण करके धर्मकी और अपनी हृषि बढ़ायें। यह है उनका शक्तितः त्याग और साधु संत बाह्य तथा आभ्यन्तर समस्त परिग्रहोंको छोड़कर अपने विशुद्ध आत्मस्वरूपकी भावनामें लगें, यही है साधुवोंका शक्तितः त्याग। ज्ञानी पुरुष इस शक्तितः त्यागकी भावना करता है। आत्माका तो सहज त्यागस्वरूप है ही, जो इस आत्मामें है सो तो है, जो नहीं है वह नहीं है। जो बात प्रभुमें है वह हम आपमें है, जो हम आपमें नहीं है वह प्रभुमें नहीं है, पर हम आप अपनेको ऐसा कैसा निरख करके बोलें? शक्तिरूप, स्वभावरूप स्वरूपरूप। मुझमें ज्ञानस्वरूप न हो तो केवलज्ञान प्रकट कैसे हो? मैं त्यागमूर्ति हूं, त्यागस्वरूप हूं, ऐसी स्वरूपास्तित्व मात्र प्रतीति करने वाले पुरुषोंके जो सहज त्यागरूप प्रतीति हीती है वास्तविक त्याग उन्हीं पुरुषोंका है। विष्विसे विपरीत त्यागका ढोंग करे तो वहां विडम्बना ही होती है।

खिंचिति त्यागकी सफलता— एक पुरुष था, जाड़े के दिन थे। जाड़े से ठिठुरती हुई एक बुद्धियाको देखकर जो वह रजाई ओड़े था दे दिया। और आगे चला तो एक खेतमें किसानकी झोपड़ी बनी थी सो जाड़ेके ऊपर उस झोपड़ीको नोच-नोचकर तापने लगा। वह किसान मालिक आया और पूछा कि तुम कौन हो? सो वह बोला कि हम हैं दानीके बाप। अभी जाड़ेसे ठिठुरती हुई बुद्धिया को देखकर उसे मैंने अपनी रजाई ओढ़नेको दे दी। उस किसानने वहां पर उसकी खबूल मरम्मत की। अरे वहां तो त्याग किया और यहां उस किसानकी झोपड़ी उजाड़ते हैं। तो त्याग भी विधि सहित हो जो बराबर चल सके और जिससे हम अपनी और आ सकें। सत्यस्वरूप त्यागवृत्तिके स्रोत त्यागमूर्ति निजतत्त्वकी भावना करने वाले सम्यग्हृष्टिके जगतके जीवोंपर करुणाका भाव होनेसे तीर्थकर प्रकृति का बंध होता है।

७—शक्तितः तप

तीर्थकर प्रकृतिकी बंधक भावनावोंमें यह ७ वर्ण भावना है शक्तितः तप भावना। शक्तिके अनुसार तपश्चरण करने की भावना होना, सो शक्तितः तप भावना है। तपश्चरणके प्रयोजन अनेक हैं। इस शरीरसे उपेक्षा भाव बढ़ाना है, शरीरको हृश करना है। विषयकषायोंमें उपयोगकी गति न जाय इसके अर्थ कार्यक्लेश करना, ज्ञातोंकी ज्ञानचर्यकी प्रबल साधना

बनाना, इन अनेक प्रयोजनोंमें मूल प्रयोजन सबके साथ है। मूल प्रयोजन यही है कि निश्चय भावमें, स्वभाव भावमें इस उपयोगकी गति बन सके। इन समस्त तपश्चरणोंका मूल प्रयोजन मात्र यही है।

शरीरकी उपेक्षा और अपेक्षा— यह शरीर अशुचि है, दुःखोंको उत्पन्न करने वाला है, विनाशीक है, अस्थिर है, अपवित्र है तथा कृतज्ञ की तरह है, मानों उपकारको भूल जाने वाला है। इस देहको कितना ही सजावो, कितना ही खिलावो, कितनी ही सेवा करो, पर यह दुःखका ही कारण बनता है। ऐसे शरीरको क्या आराममें रखना? विषय-कथायोंमें इस शरीरकी गति न बन सके एतदर्थं इसे नाना तपश्चरणोंमें लगाना, यह है शक्तितः तप। यदि आजकी परिस्थितिमें अर्थात् जब कि शरीरका बन्धन लगा हुआ है ऐसी परिस्थितिमें शरीरके समर्थ हुए बिना रत्नत्रयकी साधना नहीं हो सकती है तो इस शरीरको रत्नत्रयकी साधनाके प्रयोजक कार्योंमें लगाना, नाना तपश्चरण करके भगवद्भक्ति आदिक कार्योंमें लगाना ये सब कर्तव्य तो हैं ही।

तपश्चरणका प्रथम प्रयोजन— तपश्चरणका एक प्रयोग यह भी रहता है कि कदाचित् अशुभ कर्मोंका उदय ऐसा आये कि अनेक दिनों तक भोजन न मिल सके अथवा अनेक व्याधियां, विपत्तियां आ जायें तो उन विपत्तियोंके समयमें यह साधक ज्ञानसे विचलित न हो जाय, क्योंकि इसने आराममें रहकर ज्ञानका अर्जन किया है, सो कदाचित् कभी कष्ट आ जाय तो यह बहुत कुछ सम्भव है कि यह अपने ध्येयसे चलित हो जाय। तो मैं कभी उपसर्ग उपद्रवोंकी संयुक्तिपर अपने ध्येयसे विचलित न हो जाऊँ, इसके अर्थ यह साधु तपश्चरणका उद्यम करता है। यह नी उसमें एक प्रयोजन है।

तपश्चरणका तात्कालिक लाभ— साक्षात् लाभ तो यह है कि जिस समय शक्ति अनुसार तपश्चरण किया जाता है उस समय इसकी भावना पवित्र रहती है। कायक्लेशकी ओर उपयोग नहीं रहता, किन्तु स्वनः ही सहज ऐसी वृत्ति जगती है कि जिससे यह अपने स्वभावकी ओर ही प्रवृत्त होता है। सो गंडे विचार खोटे ध्यान ये सब समाप्त हो जाते हैं तपश्चरण में। जिन ज्ञानियोंका उद्देश्य निर्मल है, मोक्षमार्गके अनुकूल उद्देश्य जिसने बना लिया है उनका यह तपश्चरण समता और शांतिका साधक होता है। जिनको मोक्षमार्गके रहस्यका पता ही नहीं है, व्रत तप आदिक भी कर रहा हो, किन्तु मैं क्या हूँ इसका जिसने ठीक भान नहीं किया है, ऐसे पुरुषों को उन तपश्चरणोंके करने पर या तो यशकी पोषणाका भाव रहेगा या

पद-पद पर क्रोधादिक कषायें जगेंगी। इस कारण अपना विशुद्ध उद्देश्य बना लेना सर्वप्रथम कर्तव्य है।

उपयोगस्वच्छताकी प्रथमावश्यकता पर एक दृष्टान्त— एक बार कार थे। जैसे नाम ही धरलो कोई एक जापानका, एक जर्मनका। दोनों चित्रकारोंने राजासे कहा कि हम लोग बड़े सुन्दर चित्र बनाते हैं। आप अपने किसी महलमें या हालमें बनवाकर हमारी चित्रकला देखें। तो राजा ने एक बड़े हालमें चित्रकारीके लिए दोनोंको कहा और यह भी कहा कि जिसका चित्र बहुत अच्छा होगा उसको खूब पारितोषिक मिलेगा। एक भीत जापानी चित्रकारको दिया और एक भीत जर्मनी चित्रकारको दिया। उन दोनोंके बीचमें एक काठका पर्दा लगा दिया जिससे वे चित्रकार एक दूसरेकी कलाको न देख सकें। अब मानों जापानी चित्रकारने रंग बिरंगे बहुतसे बाह्य साधन जुटाये और ६ महीना तक बहुत-बहुत सुन्दर-सुन्दर चित्रोंका रंगना प्रारम्भ कर दिया और इस जर्मनी चित्रकारने साफ करने वाले मसाले जैसे पहिले कौड़ीका चूना होता था उससे खूब रगड़ना शुरू किया। अब ६ माह तक भीतको रगड़ता ही रहा। भीतको साफ उजला स्वच्छ चमकदार बना दिया। जब ६ महीना व्यतीत हो गए तो राजा ने कहा कि अब तुम दोनोंके चित्रोंको देखेंगे। ठीक है महाराज, चित्रोंको देखिये और उनका मुकाबला करिये कि कौनसा चित्र उत्तम है। बीचका पर्दा हटवा दिया गया। अब राजा चित्र देखने लगा तो जिस भीत पर चित्र लिखे गये थे, रंगे गये थे उसे देखा तो ऐसे ही रुखे, कांतिहीन सब चित्र नजर आये। जब उस भीतपर नजर ढाली तो वह भीत चमकीली थी, उसमें उस दूसरी भीतके सारे चित्र प्रतिबिम्बित हो गए। राजा उस को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उस चित्र बनाने वाले को बहुतसा पुरस्कार दिया।

उपयोगस्वच्छताकी मूल आवश्यकता— यों ही समझो भैया ! कि इस जीवनमें धर्मकी चित्रकारी कर रहे हैं, वर्षों हो गए, करते जा रहे हैं पर इस चित्रकारीमें सर्वप्रथम यह व्यान देना चाहिए कि हम अपने आत्मा को शुद्धभावनासे, ज्ञानभावनासे, स्वरूप परिचयसे स्वतंत्रताके निर्णयसे पहिले अपने उपयोगको बिल्कुल स्वच्छ बना डालें, जिस उपयोगमें कषायों का रंग न जमें, जिस उपयोगमें गर्व न ठहरे, विपरीत आशब्द न आये परके प्रति ममता न जगे। बिल्कुल स्वच्छ उपयोग बना दिया जाय तो फिर थोड़ा भी कष्ट आप करोगे, धर्मपालनकी चैष्टा करोगे, प्रबुत्ति करोगे

प्रवृत्ति करोगे तो वे सब कई गुणा फल देंगे। एक उपयोगको स्वच्छ बनाये बिना धर्मपालनका भी फल न मिलेगा और व्यर्थमें समय भी गँवा दिया जायेगा। वह मात्र थोड़ा पुण्यका कार्य रह जायेगा। लोग सोचते हैं कि हम जितनी चालाकीसे चलेंगे, जितना हम दूसरोंकी आंखमें धूल डालेंगे उतना ही अधिक अपने बैधवका कार्य साध लेंगे। सच पूछो तो वह पुरुष उतना ही अधिक टोटेमें रहता है। कारण यह है कि जब मूलमें भावना ही अशुद्ध है तो उस अशुद्ध भावनाके निमित्तसे पापकर्म का बंध होगा। पुराने पाप उद्दीरणमें आकर सामने आयेगे। पुण्यका रस घट जायेगा। क्या तत्त्व पाया?

शक्तिः उपकी साधना— भैया! शुद्ध स्वच्छ उपयोग रहे तो धर्म-रसकी प्राप्ति होगी। अनायास ये सुखकी साधनभूत सम्पत्ति प्राप्त हो जायेगी। हो प्राप्त अथवा न हो, कैसी भी स्थिति बने, जब शरीर भी मेरा साथी नहीं है, शरीर भी छूट जायेगा तो अन्य पदार्थोंकी क्या वृद्धि करते हो? कौनसी सिद्धि हो जायेगी, जिसके लिए नीति अनीति नहीं गिनते व अपने उपयोगसे धार्मिकताका अंश दूर कर डालते हैं? यह प्रवृत्ति उचित नहीं है। अपने उपयोगको स्वच्छ शुद्ध सत्य प्रामाणिक बनायें त उससे हितकी सिद्धि है। ये सब तप हैं, उपसर्गोंसे विचलित न होना, अपने मोक्षमार्गके उद्देश्यमें ढूढ़ रहना, उपद्रवोंका सामना कर सकना और जान बूझकर भी अन्तर्काल कायकलेश करना, ये सब हैं शक्तितः तपः।

शक्तितः तपका मन्तव्य— शक्तिके अनुसार तप करना, इसका भी यह अर्थ नहीं लगाना कि शक्तिसे ज्यादा तप न हो जाय अथवा शक्ति के अनुपातसे भी तप अधिक न हो जाय यह अर्थ नहीं है। उसका अर्थ यह है कि शक्ति न छुपाकर तप करें। बढ़े चलो शक्ति माफिक अर्थात् शक्तिसे कम न रहकर शक्ति प्रमाण इच्छानिरोध करें, कायकलेश करें, आरामतलबी छोड़ें। और अब अधिक नहीं बन सकता है तो कमसे कम इतना तो अवश्य ही करना चाहिए कि हम शरीरको आरामतलबीमें न रखें। जैसे कि शरीरके अनुरागवश शरीरको बहुत आरामसे रखनेकी प्रवृत्ति होती है मोहियोंकी। इसे काममें जुटाये रहें, इतना तो कमसे कम होना चाहिए। यह शरीर नष्ट हो जायेगा। जितने दिनको मिला है [जितने] दिन तो परोपकार करलें और अपनी सेवाके लिए दूसरोंकी बाट न जोहें। स्वयं अपना और परका उपकार कर सकें, ऐसी वृत्ति रखनाहै यह है।

शक्तितः तप।

गृहस्थोंके योग्य आवश्यक दो बातें— गृहस्थजनोंके लिए तपश्चरण

के लिए दो बातोंका बड़ा ध्यान देना चाहिए। ये बढ़े कामकी दो बातें कह रहे हैं जिनका अभीसे ही पालन करें और उसमें बढ़ना अपना कर्तव्य समझें। पहिली बात तो यह है कि उदय अनुसार जो कुछ प्राप्त होता है थोड़ी बहुत आय होती है उसके अन्दर ही धर्मानुसार विभाग बनाकर अपना गुजारा करना और दूसरोंका आडम्बर देखकर उनको चुपड़ी सजावट देखकर अपने मनको असंयत न बनाना, स्वच्छन्द न बनाना, ऐसी बाढ़ाएँ न होने देना कि मैं भी यदि ऐसे ही आडम्बर बोला होता तो अच्छा था। ये सब संसारके स्वप्न हैं, मायारूप हैं। जो मानते हैं कि ये सब मेरे हैं उनके ये कुछ नहीं हैं। प्रत्येक जीव केवल निजज्ञानस्वरूप है। फिर दूसरोंके बैमवपर क्यों आशर्य हो? जो कुछ भाग्यको मंजूर है या यों कह लीजिए जो उदयानुसार प्राप्त होता है उसमें ही तुष्ट रहना, उस में ही अपना गुजारा करना। अब फिर जितना जो कुछ बढ़े तो धर्मभाग्य में बढ़े। खूब ज्ञान सीखें, खूब ज्ञानार्जन हो तो उससे क्या नुकसान है? अनुपम लाभ है।

लोकेषणाकी व्यर्थता— जगत्‌में दो चार परिचित जीवोंके पीछे हम अपनेको कुछ अच्छा कहलावा लें, बड़ा कहलावा लें तो इससे कौनसा लाभ है? क्या ये दूसरे खुद मरेंगे नहीं जिनमें नाम चाहते हैं? क्या ये खुद मरेंगे नहीं जो नाम चाहते हैं? और क्या बतायें सब अनुभवसे परख लो, सब थोटी बातें हैं। काहेका यश, काहेकी नामवरी, किसको यहां क्या दिखाना चाहते हो? कोई तुम्हारी सुन सकने वाला हो तो उसे दिखाओ। तुम्हारी बात यहां कोई सुन नहीं सकता, तुम्हें दुःखसे यहां कोई बचा नहीं सकता है। जब ऐसा हाल है तो मैं यहां किसे रिभाता फिलूँ? इस दुनिया में सभी तो मढ़िगान हैं। किससे तो प्रेम करूँ किसको रिभाऊँ, किसको प्रसन्न करूँ, किससे अपनेको भला कहलाऊँ? ये सब असार बातें हैं। यह तो एक झमेला है, कोई किसी गतिसे आया, कोई किसी गतिसे आया ये कब तक रहेंगे? कोई कहीं चले जायेंगे, कोई अभी चले आयेंगे, फिर यहां कोई तत्त्वकी बात तो है नहीं। तब फिर क्या अपने मनको स्वच्छन्द प्रवर्तीना। जो मिला है जो प्राप्त है उसही में अपना गुजारा करें और धर्मके लिए खूब बढ़ते रहें, ज्ञान करें, ध्यान करें, सत्संगति करें, धर्मचर्चा यति करें, किसी भी समय क्यों बेकार बैठें, क्यों यहां वहां का चितन करें?

गृहस्थयोग्य प्रथम तपका उपसंहार— भैया! ऐसे योग्य अवसरको पाकर सारभूत जो ज्ञानार्जन है उसको क्यों न कर लिया जाय? प्राप्ति

कम है, रोजिगार कम है, आय कम है, तो उसका ऊँचा लाभ उठाना चाहिए। यह तो इस समय का बहुत बड़ा ऊँचा लाभ ले सकता है। यहां कुछ पापोदय नहीं है। पापका उदय उसके हैं जिसके परिणाम मलिन रहे, पापमय रहे, हिंसा, मूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इनमें चित्त बसा रहे उदय तो उनके पापके हैं। तो पहिली तपस्या तो यह है कि जो आय हो उसमें संतुष्ट रहना। दूसरोंका आडम्बर देखकर न आश्चर्य करना, न चाह करना बल्कि उन्हें दयापात्र देखना, ओह कैसा दुःखी है, कैसा अज्ञानमें यस्त है, अपनी सुध नहीं हो पाती है। पहिला तप तो गृहस्थको करने लायक यह है। कोई करे तो फल पायेगा।

गृहस्थयोग्य द्वितीय तप-- दूसरा तप गृहस्थका यह है कि यह दृढ़ विश्वास बनाएँ कि जो कुछ समागम मिला है, धन वैभव कुटुम्ब परिवार मिले हैं ये जो कुछ भी वस्तुवें प्राप्त हुई हैं नियमसे किसी दिन बिछुड़ेंगी। बिछुड़ेंगी तब बिछुड़ेंगी पर उनके प्रति ऐसा श्रद्धान् तो अभीसे बनावो। जो पुरुष ऐसा समझते हैं उनके समागमके समय आसक्ति नहीं होती है। अज्ञानका अंदेरा उनके नहीं रहता है। ज्ञानी जान रहा है कि वे सब भिन्न वस्तुयें हैं, अनित्य हैं, बिछुड़ जाने वाली हैं। सो ज्ञानी पुरुषके कभी किसी भी वस्तुमें आसक्ति नहीं हो सकती है। वह तो वियोगके समय यही समझेगा देखो ना, हम तो बीसों वर्ष पहिले से जानते थे कि ये सब चीजें बिछुड़ेंगी, आज ये अलग हो रही हैं, बिछुड़ रही हैं। यह तो हम पहिले से ही जान रहे थे। उसे वियोगके समय क्लेश नहीं हो सकता है। दूसरा तप है यह करनेका। जो करेगा सो मजा पायेगा, आनन्दमग्न रहेगा। बतावो इसमें क्या जा रहा है? कहीं शरीरका कष्ट नहीं दिलाया जा रहा है।

भावशुद्धिकी दुर्गमताका अभाव— भैया! बात यहां यह नहीं कही जा रही है कि अनशन करो, पानी न पियो। यह भी नहीं कहा जा रहा है कि जो तुम्हारे पास धन है उसे निकालकर गलीमें केंक दो। यहां तो यह बात कही जा रही है कि भीतरमें ही उस वस्तुके अनुकूल यथार्थ परिणाम बनावो। इतना विश्वास बने और ऐसी ही प्रयोगकी भावना बने तो इसमें घटा क्या? नष्ट क्या हुआ? यदि परिणामोंमें उज्ज्वलता आये तो शांति संतोष उसके निकट आयें।

निजका अन्यत्र शरणका अभाव— इस लोकमें हम आपका अन्य कोई शरण नहीं है। कहां विश्वास जमाते हो, किसको अपना रक्षक मानते हो? अभी भी देख रहे हो, पुराणोंमें भी सुना है जिसने जिसको

अपना रक्षक माना वह उसकी रक्षा नहीं कर सका। क्या उदाहरण दें ? श्रीराम श्रीसीताके स्नेह और विश्वासके समक्ष और किसका उदाहरण रक्खा जाय ? वे भी मौजमें नहीं रह सके। रामने सीताको बनवास दिया श्रीराम अपने आपके चित्तमें कितने उद्विग्न हुए होंगे। सीताजीको भी कितना साहस बनाना पड़ा होगा। राम लक्ष्मणकी प्रीति जैसी और किस की कहानी बतावें। कितने-कितने हुःख इन्होंने सहे। जब नारायण बल-भद्र जैसे महापुरुषोंमें भी ये दुःख घटनाएँ हुईं तो हम आप कहां भूले हुए हैं ? कौन यहां रक्षक है ?

अपने सदाचारपर लोकसहायकी निर्भरता— भैया ! किस पर आपका भरोसा है कि ये मेरे मदद करने वाले होंगे ? यह विश्वास रखिये कि यहां कोई किसीका मददगार न होगा। अपने आपका आचरण उत्तम है, तो खुद ही खुदके सहायक होंगे। दूसरा कोई किसीका सहायक न होगा। कोई पट्टा नहीं लिखा रखा है प्रमुताका कि आप तो आप ही हैं, आपका नाम यह है ना, तो दसों आदमी मदद करेंगे ही। आपका स्वयं का आचरण जब तक भला है, जब तक आपका ही व्यवहार योग्य है तब तक दूसरे भी सहायक बन रहे हैं। दूसरे सहायक हो रहे हैं, इसमें आप का ही प्रभाव है। आपकी ही कलाकी बात है। यों सब बातोंका निर्णय करके और अधिक नहीं तो इन दो तपोंमें तो अपनी प्रवृत्ति रखना चाहिए।

शक्तिः तपमें समताकी प्रमुखता— तपस्याकी मूर्ति, आध्यंतर और बाह्य परिप्रहोंसे रहित साधु पुरुष होते हैं। इस तप भावनामें अपनी ऐसी भावना होनी चाहिए कि कब वह दिन आये, कब वह क्षण आये कि सर्व-परिप्रहोंसे विकल्प त्यागकर शुद्ध निर्विकल्प निज ज्ञायकसवरूपमें रत रहा करें और ऐसे दर्शन करते हुएमें कैसा भी उपद्रव आये, बड़े उपसर्ग आयें फिर भी उनसे विचलित न होना, अपना आत्मबल बनाए रहना, ऐसी भावना करना, सो शक्तिः तप भावना है। अनुचूल प्रतिकूल कुछ घटनाएँ आयें उन घटनाओंमें अपना समतापरिणाम रख सकना, धैर्यभाव बना सकना यह भी तप है। इस समतारूप तपश्चरणमें कितना ज्ञानबल लगाना होता है, कितनी उपेक्षावृत्ति रखनी पड़ती है वह अज्ञानीजनोंके द्वारा किया जाना असम्भव है। इस ज्ञानबलको जो संभाले वह ज्ञानी ही है।

तप और त्यागमें कल्याणप्रकाश— भैया ! तप और त्याग बिना शांतिका मार्ग कैसे मिल सकेगा ? शरीरमें इष्टबुद्धि रखें तब तो शरीर

सुखियापन चाहेगा। जिस ज्ञानी संतकी दृष्टि अपने आपके चैतन्यस्वभाव के प्रतपनमें रहा करती है उसे इसे शरीरमें आराम, शरीरकी सजावट, शरीरका शृंगार ये सब अनुचित भालूम होते हैं। ऐसे परम तपश्चरणकी भावना रखना सो शक्तिः तपभावना है। इस तपभावनामें तपा हुआ ज्ञानी संत जब विश्वके समग्र जीवोंपर दृष्टि करता है और उनके बर्तमान दुःखोंको जानता है तो एक परम करुणा उत्पन्न करता है कि ओह एंच ही तो सुगम उपाय है निःसंकट होनेका। अपनी ओर दृष्टि करें और संकटोंसे मुक्त हों, ऐसी परमकरुणामें तीर्थकर प्रकृतिका वंध होता है।

८—साधुसमाधि

साधुसमाधि भावना— अब साधुसमाधि नामकी दर्वी भावनाका वर्णन कर रहे हैं। जो ब्रतशील आदि गुणोंसे मंडित पुरुष हैं ऐसे संतोंके किसी कारणवश विघ्न बाधा भी आ जाये तो उस विघ्नको दूर करना, धर्मकी रक्षामें सहायक होना यही है साधुसमाधि भावना। इस पुरुषके, इस ब्रती आत्माके जो उपद्रव आये हैं, किसी प्रकारके विघ्न संकट, संकलेश परिणाम हुए हैं उसके शीलको भी, ब्रतको भी, संयमको भी, धर्म को भी बाधित कर सकता है। सो जैसे जिस भैंपड़ीमें आग लग जाये, घरमें आग लग जाये तो घरमें रक्खी हुई वस्तुओंको सुरक्षित बनानेके लिए उस अग्निको शांत किया करते हैं। भट्ठ बुलावो नहीं तो अपना सब बैधव समाप्त हो जायेगा, ऐसे ही ये विघ्न बाधाएं अग्निकी तरह हैं। अपने आपमें बसी हुई अग्नि जलानेके लिए यह उपयोग अपने आप अग्नि के पास आये हैं। इन बाधाओंको शांत करना यही है समाधिभावना।

मरण समय साधुसमाधि— कदाचित् मृत्युका काल आ जाये तो वहां इसे अथवा अपनेको समझाना है आत्मन् ! देखो इस लोकमें तू ने अनन्त बार जन्म पाये, अनन्त बार मरण किया। कोई यह अनोखा जन्म नहीं है। इसका विनाश होते समय तू संकलेश क्यों करता है ? जिस जीवन में संकलेश न हो, जिस जीवनके अंतमें भी संकलेश न हो, जीवन तो वह अनोखा है। और, देख तू तो अखण्ड अविनाशी ज्ञानस्वरूप चैतन्यतत्त्व है। तेरा कहां मरण है, न तेरा उपजना है, न तेरा मरना है। उपजना भी पर्यायका है, मरना भी पर्यायका है। अर्थात् उत्पाद व्यय पर्यायोंमें हुआ करता है। वस्तुका उत्पाद और व्यय नहीं होता है। तू देहके वियोगको अपना नाश क्यों मानता है ? ऐसे अविनाशी ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करके मरणभयको मिटाना और अपनी समाधिका बनाना, ऐसे साधुसमाधि

कहते हैं। मेरी ऐसी स्वरूपमें स्थिति बने, ऐसी भावनाको साधुसमाधि कहते हैं।

अन्तविशुद्धिसे साधुसमाधि— कोई देखे सुने हुए समाधिके खूब भजन बोल जाय, खूब समाधिमरणके भजन बोले और स्वयंका जब मरणकाल आये तब मोह ममतामें पड़े तो उसे क्या सिद्धि होती है? उसका कहना एक औपचारिक था, मूठ था। जैसे कोई मरनेकी चाह करता है कि मर जाऊँ और जब मरणकाल आता है तब नहीं मरा जाता है। ऐसी ही स्थिति इन शब्दज्ञानियोंकी है। मेरा समाधिमरण हो, मेरा समाधिमरण हो, जब मरणकाल आया तो समाधि नहीं बनती है, इसके लिए अपना यत्न होना चाहिए ज्ञानभावनाका। जीवनमें धैर्य रह सके, जीवनमें भेदविज्ञान रह सके, प्राप्त हुई वस्तुकी भिन्नताकी भावना रह सके तो मरण समयमें भी कुछ पुरुषार्थ चलता जायेगा।

मरणभयके आभावमें साधुसमाधिका प्रसाद— अरे भैया! जीवन भर असंयमी जीवन रहा, स्वच्छन्दता रही, इस मायामयी जगतमें यश, नामकी इच्छा बनी रही और यह जगत् सर्वस्व है ऐसा समझा व इसी ढंग की प्रवृत्ति बनी रही तो अब मरण समयमें क्या आशा की जा सकती है कि हम यथार्थ पदसे विचलित न हो सकें। ज्ञानी पुरुष अपनेको और परको यों प्रतिबोध देते हैं कि हे अज्ञानी तू इस शरीरसे वियोग होनेमें संक्लेश कर रहा है, दुःख मान रहा है कि हाय मैं मग, हाय मैं यहांसे गय, देख हजारों, कीड़ों करिके भरा यह शरीर है। हृषि यथार्थताकी ओर लगावो, देखो हैं हजारों कीड़े शरीरमें कि नहीं। किन्हींके तो बिलबिलाते रहते हैं कीड़े। किन्हींके दुर्बन्निसे कीड़े दीखते हैं और किन्हींके ज्ञानसे समझमें आ सकने वाले होते हैं। कीड़ोंके बिना किसीका देह हो तो बतावो। उपर से जरा तेल चुपड़ लिया, चिकना चापड़ा बना लिया, ऐसी बमावट सजावटसे कहीं भीतरमें तो अन्तर न पढ़ जायेगा कि भीतरकी हवा बदल जायेगा कीड़े बदल जायें। यह शरीर हाड़, मांस, मज्जों, खून, पीपसे भरा है तिस पर भी बिनाशीक है, अवश्यमेव जष्ट होने वाला है, ऐसे इस शरीर के नाश होने पर तू समझता है कि मेरा मरण हो रहा है, अरे तू नो अविनाशी है।

समाधिमरणकी मित्रता— हे आत्मन! देहसे यदि तू अलग हो रहा है तो तेरे अलग होनेके बाद रंगा चंगा नया शरीर मिलेगा। तो इतना बड़ा उपकार जो करे उससे बढ़कर मित्र और किसे बनाया जाये? यह मरण तो तेरा मित्र है, जो अतिवृद्ध जीर्ण शरीर से हटाकर नये

शरीरमें पहुंचा है। जो ऐसे बड़े अच्छे ढंगसे मरे कि मरकर कुयोनिमें न पैदा हो, उत्तम देह मिले जो धर्मका साधक हो, ऐसा उपकार करने वाला तो समाधिमरणरूप मित्र ही हो सकता है, अन्य किसीके बशकी बात नहीं है, और भी देखो— जीवन भर ब्रत, तप, संयम किया, उससे जो पुण्यबंध किया तो कितने ही पुण्य ऐसे हैं कि जो मरनेके बाद ही आगे आते हैं और फल देते हैं, जिन्दा रहते फल नहीं दे सकते हैं। जैसे ब्रत, तपके परिणामके कारण देव आयुका बंध हुआ, देवगतिका बंध हुआ। जगह-जगह चिह्नार करके खूब भक्ति करें, तीर्थकरोंके साक्षात् दर्शन करें ऐसी बात जहां मिले ऐसा देवधर्म मिल जायेगा। तो ब्रतकी साधना करके जो पुण्यबंध है उसका फल दिलाने वाला तो मरण है। तब मरण मित्र ही तो हुआ।

कल्याणमय महोत्सव— समाधिमरण एक बड़ा समारोह है, महोत्सव है पर लोकमें यह प्रथा है कि जन्मका तो महोत्सव होता है, पर मरणका महोत्सव नहीं माना जाता और मानें कैसे? कोई खटियामें पड़ा हो उसे कोई दूसरा समझाने जाये कि देखो देव न्यारा है, आत्मा न्यारा है, जो कुछ तुम्हें करना हो सो कर जाओ तो वहां तो ४ गालियां मिलती ही। तुम हमारो मरबो चाहते हो क्या? समाधि जन्म किसीने सुना है? नहीं सुना होगा, और समाधिमरण, यह सुना है। समाधिमरणमें समता परिणाम सहित मरण होता है। यों तो बड़े विशिष्ट पुरुषोंमें तीर्थकर होने के जन्मके पहिलेसे ही कल्याणक होता है और गर्भमें क्या, गर्भके पहिलेसे बात चली। तीर्थकरके गर्भमें आनेके ६ महीने पहिलेसे सब बातें होने लगती हैं, सुन्दर रचना हो जाती है, उनका निर्वाण होता है और निर्वाण के समय भी कल्याणक होता है। पर जिसका निर्वाण होगा उसका कल्याण अवश्यमेव है, ऐसी बात जचनेके कारण गर्भके समय, जन्मके समय और दीक्षादिके समय समारोह होता है। तो गर्भ कल्याणके भनाये जानेका मुख्य कारण उनका निर्वाण होना है। समाधिमरणका बहुत महत्त्व है।

मरणके भेदोंमें बालबाल मरण— मरण ५ तरहके होते हैं बाल-बाल मरण, बालमरण, बालपंडितमरण, पंडितमरण और पंडितपंडितमरण। बालबालमरण तो मिथ्यादृष्टियोंके मरणका नाम है। मोहसे रह रहे हैं, अज्ञान, ममता, सक्लेशमें मर रहे हैं। वह तो है बालबालमरण अर्थात् नादानीका मरण। बाल मायने नादान, नासमझदार और बालबाल मायने डबल कमसमझदार अर्थात् महामूढ़, अज्ञानी। उसके मरणका नाम है बालबालमरण। यहां बालसे अर्थ बालकसे है, सिरके बालसे कहीं न समझ

लेना । जैसे कोई ऐक्सीडेन्ट से बच जाय तो कहते हैं कि बाल बाल बच आए तो ऐसा यहां अर्थ न लेना । बालबालमरण के मायने बालबाल मर गया ज्ञ लेना । यहां बाल शब्द का अर्थ है अज्ञानी, नासमझ । मिथ्याहृष्टियोंके मरण का नाम है बालबालमरण ।

बालमरण— सम्यक्त्व तो हो गया हो, किन्तु ब्रत न हुआ हो ऐसे पुरुष का नाम है बाल । अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को बाल कहते हैं, बालबाल नहीं । चारित्र की दृष्टि से तो बाल है किन्तु सम्यक्त्व की दृष्टि से बाल नहीं है । ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि पुरुष के मरण का नाम है बालमरण । बालमरण में समाधि सम्भव है, ब्रत न था किन्तु सम्यक्त्व सहित मरण हो तो उसे कुमरण नहीं कहते हैं । मोक्षमार्गीं जीव का मरण यहांसे शुरू होता है, पर यह मोक्षमार्ग का अभ्यस्ती है अथवा यों कहो कि मोक्षमार्गीं और उसकी दृष्टि बनी है, ऐसे ब्रतरहित ज्ञानी पुरुष के मरण का नाम है बालमरण ।

बालपंडित मरण— बालपंडित मरण होता है नैष्ठिक श्रावक जनों के, प्रतिमाधारी पुरुष के, क्योंकि उनके एक देश संयम होता है । इस कारण तो वह पंडित है किन्तु सकल संयम नहीं होता है । सर्व दोषविविध से आत्मस्वभाव में स्थिर हो सके ऐसी पात्रता नहीं जगी है इस कारण यह बाल है । यों नैष्ठिक श्रावकों को बालपंडित कहते हैं । ऐसे बालपंडित के मरण का नाम है बालपंडित मरण ।

पंडितमरण— साधु पुरुष के मरण को पंडितमरण कहते हैं । जिसकी अन्तर्भीवना विशुद्ध है, सर्वविशुद्ध ज्ञानस्वभाव की उपासना में जो निरत रहा करते हैं, किसी भी कषायभाव का संस्कार उनके ५, ७, १० मिनट से ज्यादा नहीं रह सकता । जल में रेखा खींची जाय तो वह रेखा जल में कितने समय को रह सकती है । समझ लीजिए इतना मंद जिसका क्रोध हो, अत्यन्त पहले बांस के हरे पौधे की तरह जिनके नश्रता प्रकट हुई हो, कितना वह नम जाता है । मायाचार, कुटिलता भी जिसमें न हो, लोभ, तृष्णा के वश भी रच नहीं हो, ऐसे संत पुरुषोंके मरण का नाम है पंडितमरण । यह पंडितमरण पूर्वोक्त सब मरणोंमें प्रशंसनीय है । इतना प्रशंसनीय है पंडितमरण कि धर्म की धुन बाला श्रावक भी यह कहता है भाई जब हमारा मरण काल हो तो हमारे सब कपड़े निकाल देना, नीचे लिटा देना, हम मुनि अवस्था में मरण चाहते हैं ।... और छह तुम बेहोश हो गये तो ? तो भी कपड़े उतार देना और नीचे लिटा देना । पंडितमरण के प्रति जहां इसकी भावना चलती हो समझो उसका कितना बड़ा महत्व है ? फिर जो वास्तविक मायने में पंडित हो, साधु पुरुष हो उसके मरण का

तो लोकप्रभावनामें भी और उसके लिए भी बहुत बड़ा महत्व है।

साधुसमाधिका व्यापकत्व व पंडितपंडितमरणरूप महाफल—ऐसे इस साधुसमाधिकी भावना रखना सो साधुसमाधि भावना है। साधु मायने भली प्रकारसे, समाधि मायने समाधान बनना। सर्वदा भला समाधान बनाए रहना इसका नाम है साधुसमाधि। कितना व्यापक शब्द है! अपने प्रयोजनको बतानेके लिए यह परिभाषा उपसर्गोंके समय भी मुक्त है, जीवनके उपद्रवोंके समय भी युक्त है, मरण समयमें भी उपयुक्त है, और हट्टै-कट्टै अच्छै आनन्दमें जीवन विता रहे हैं उस समयके लिए भी उपयुक्त है। हितकारक भला सम्यक उचित समाधान बनाए रहना, अपना सम्वेदन जागृत रखना इसे कहते हैं साधुसमाधि। ऐसी साधुसमाधि भावनाके अविभावक पुरुष अपने विषयमें चूंकि निर्णय कर चुक हैं तो कि संसारके समस्त संकटोंसे छूटनेका कितना सुगम उपाय है, तब संसार के अन्य प्राणियोंपर भी ऐसी भावना रखता है कि अहो इतना सुगम स्वाधीन संकटहारी प्रयोग भ्रमवश नहीं किया जा रहा है इस जीवसे। इसके सद्बुद्धि पैदा हो और अपने आपकी ओर उन्मुखता बने, ऐसी भावनाको साधुसमाधि भावना कहते हैं। इस जीवनमें भी उपद्रव और उपसर्गोंके समयमें भी इतना सदा उपयोग है और मरणके समयमें भी सदा उपयोग है। ऐसे सर्वकाल समाधानरूप अपनेको बनाये रखनेकी भावना करनेको साधुसमाधि भावना कहते हैं। अपने कल्याणके अर्थ इस भावनाको निरन्तर भाना चाहिए। इस भावनाका फल है पंडितपंडितमरण अर्थात् निर्वाणकी प्राप्ति। ऐसे साधुसमाधि भावको हमारा बंदन हो।

आत्मप्रतिबोधमें समाधि—अपने आपके चित्तका निरन्तर समाधान होना सो साधुसमाधि है। कैसा भी उपद्रव उपसर्ग आए, वहां पर भी अपने इस ज्ञानमय विशिष्ट आत्माका प्रतिबोध करना यही साधुसमाधि है। देवने उपसर्ग किया हो अथवा मनुष्य तिर्यक्चर्चोंने किया हो उस समय भी इस साधुज्ञानीके भय नहीं रहता है। भयका कारण तो धनकी और जीवनकी तृष्णा है। ये दो बातें न रहें फिर भय किसका?

धनहानिभयमें असमाधि—कुछ धनका नुकसान न हो जाय, इतना टोटा न पड़ जाय, कोई लुड़ा न ले इन बातोंका बड़ा भय होता है और जो अपनी वास्तविक निधिको पहचानता हो उसका स्वरूप तो मात्र मैं ही हूँ। जो मैं हूँ, जो मेरा स्वरूप है वह मेरेसे अलग नहीं हो सकता, मैं तो सदा सुरक्षित हूँ, ये बाहरी चीजें मुझसे अत्यन्त न्यारी हैं, कुछ और न्यारी हो गयीं तो हो जाने दो, ऐसा जिनके साहस है उनको भय किस

बातका ?

जीवनविनाशभयमें असमाधि— यों ही जीवनका भी एक भय रहता है। मेरा जीवन कहीं खत्म न हो जाय, बीचमें ही कहीं मर न जाऊँ ऐसा भय होता है पर्यायबुद्धि वालेके। अपने इस शरीरको ही यह मैं आत्मा हूँ ऐसा मानता है। परमार्थतः यह मैं आत्मा अमर हूँ, ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, सच्चिदानन्दमय हूँ, कैसा गुण हूँ, कैसे अनोखे चमत्कारके स्वरूप वाला हूँ, इसही पर दृष्टि जमें तो उसे भय नहीं हो सकता है।

स्वयंके लिये स्वयं ही स्वयंसर्वस्व— इस दिखती हुई दुनियामें मेरे लिए मेरा कुछ नहीं है, सब असार है, मायामय है, संयोगज चीजें हैं, परमार्थभूत नहीं है। इन असार भिन्न मायामय चीजोंको मैं शरणभूत मानता हूँ। इसी कारण नाना खटपटे करनी पड़ती हैं। मेरे लिये यहाँ कौन शरणभूत है ? मेरे मरणके समय यहाँ सुझे कौन बचाने आयेगा ? मेरा शरीर भी साथी नहीं है तो और कोई साथी हो ही कैसे सकता है ? सच्चा मित्र वही है जो संसारके संकटोंसे बचाने के उपायमें लगावे। जिन विषय कषायोंसे हम दुःखी हैं उन ही विषय कषायोंमें जो लगावे ऐसे कुटुम्बी अथवा मित्रजन मेरे मित्र नहीं हैं। कुछ लाभ है तो वह ज्ञानी विरक संत पुरुषके संगसे है। पर जिनके लिए तन, मन, धन, बचन न्यौद्धावर किए जा रहे हैं, उनके स्नेहके कारण तो विपदा ही है, शांति नहीं हो सकती है।

बना भिखारी निपट अजान— भैया ! जो कुछ भी चीजें यहाँ संयोग में आयी हैं सब मिट जाने वाली हैं, पर मोही प्राणी अपने जीवनमें उन्हें छोड़ नहीं चाहता है, धन वैभव और चाहिए और चाहिए ऐसी आशा करके विकल्प मचा रहे हैं। “करिष्यामि, करिष्यामि करिष्यामीति चिन्तितम् । मरिष्यामि, मरिष्यामि, मरिष्यामीति विस्मृतम् ॥” मैं करूँगा, मैं करूँगा इसका तो विचार करते हैं लोग, पर मैं मरूँगा, मैं करूँगा इस बातको बिल्कुल भुला देते हैं। जो अपने ज्ञानबलसे अपने चित्तको समाधानरूप रख सकते हैं उनसे बढ़कर दुनियामें कोई वैभवधान नहीं है। लाखों और करोड़ोंका धन हो और चित्त हो परेशान विषयोंकी बासनाके कारण तो बतावो उसने कुछ अमीरी पायी क्या ? वह तो बना भिखारी निपट अजान इस स्थितिसे मुक्त नहीं है।

शान्तस्थितिमें मनोरमता— कदाचित् शरीरमें बैद्ना हो जाय, बड़ा कठिन रोग हो जाय उन रोगोंकी भी परिस्थितिमें ज्ञानीपुरुष अपने चित्तको समाधानरूप रखता है। पूर्वकालमें एक सनत्कुमार चक्रवर्ती हो गये। उनके रूपके सम्बन्धमें स्वर्गोंमें चर्चा हो रही थी। इन्द्रकी सभामें इन्द्र

व्याख्यान कर रहा था कि मनुष्यलोकमें सनत्कुमार चक्रीसे बढ़कर कोई रूपबान् नहीं है। दो देवोंके मनमें आया कि हम देखें तो सही कि क्या यह सच बात है कि सनत्कुमार जैसा सुन्दर व्यक्ति मनुष्यलोकमें नहीं है। गये वे दो देव। उस समय सनत्कुमार अखाड़ेमें व्यायाम करनेके बाद धूलसे लथपथ बैठे हुए थे। उन देवोंने देखा तो देखते ही बोले, वाह बहुत सुन्दर सनत्कुमारका रूप है, जैसा सुना था स्वर्गमें वैसा ही रूप है। तो पास खड़े हुए अंगरक्षक लोग थहते हैं कि अभी इनका क्या रूप देखा है? जब ये शृङ्गार करके राज्यके आभूषण पहिनकर दरबारमें बैठे हुए होंगे सिंहासन पर तब देखना, इनका रूप बहुत सुन्दर लगेगा। देवोंने सोचा कि उस समय भी देखेंगे। क्या हर्ज है? कहा अच्छा आज देखेंगे।

बनावटमें मनोरमताका अभाव-- अब तो जान बूझकर बड़ा शृङ्गार बनाकर दरबारको सजाकर बड़ी तैयारी करके सनत्कुमारको बैठाया। देवोंने आकर देखा तो सनत्कुमार दोपहरके समय राजदरबारमें आये और देखकर कहते हैं कि अब वह रूप तो नहीं रहा। अंगरक्षक लोग बोले ओह! महाराज इतने शृङ्गारसे बैठे हैं फिर भी कह रहे हैं कि वह रूप नहीं रहा। तो वे देव प्रयोग करके बताते हैं कि अच्छा एक कलसाभर पानी ले आओ। जलसे भरकर कलसा रक्खा गया, उसमें एक पतली सींक ढाल दी, फिर सींकको बाहर अलग किया तो उसमें से एक बूँद पानी बाहर गिर गया। देवों ने कहा कि बताओ इस कलसे में से कुछ पानी घटा कि नहीं घटा? अब उसमें घटा हुआ कैसे दीखे? और युक्ति बतला रही है कि पानी घट गया। यों ही क्षण-क्षण रूप और आयु सभी चीजें घटी चली जा रही हैं। दूसरी बात यह है कि जब कोई मनमें यह भाव रखकर बैठता है कि मैं शृङ्गारसहित बैठूँ, मुझे आज बहुत बंधिया होना चाहिए तो उस के मुख पर खूबसूरती आ ही नहीं सकती है।

ज्ञानियोंके शारीरिक रोगमें भी समाधि-- ये ही सनत्कुमार चक्रवर्ती जब विरक्त होकर बनमें निर्णन्थ रहकर तपश्चरण कर रहे थे, वहां आ गया किसी पूर्वभवका असाताका उदय सो कुष्ट रोगसे ग्रस्त हो गये। वहां फिर वे ही देव अपनी सभामें सनत्कुमार चक्री की परमोपेक्षा का गुणानु-वाद सुनकर परीक्षा करने आये। जंगलमें पगड़ण्डीपर वैद्यका रूप रखकर घोषणा करते हुए फिरने लगे। तिसपर भी चक्री मुनिने न झुलाया। तब देव स्वयं उन मुनिराजके पास जाकर बोले कि मेरे पास कुष्ट रोग मिटाने की अचूक दवा है आप करा लीजिये। तब वे मुनि बोले यदि आप ससार-परिभ्रमण रोगको मिटानेकी दृष्टि कर सकते हैं तो कर दीजियेगा, मुझे

अन्य दवाकी जरूरत नहीं। देव इतनी परमोपेक्षा देखकर लज्जित होकर चरणोंमें गिर पड़ा।

सुन्दरता बढ़ानेका व्यर्थ श्रम— जो सुन्दरता साधारण रूपमें रहती है वह सुन्दरता बननेमें नहीं रहती है। लेकिन, आजकल तो मुखमें राख लपेट लिया, औंठोंमें लाली लगा लिया और कैसी-कैसी बनावटें करके निकलते हैं। वे जानते हैं कि हम तो बड़े अच्छे लगते हैं पर उनको देखकर लोग मनमें क्या कहते होंगे कि इनमें सुन्दरता तो अब बिल्कुल नहीं जंचती। उनकी वह बनावट विरूपतामें शामिल हो जाती है। ये सब असमाधियां हैं। चित्त समाधियमें रहता ही नहीं है।

समाधिधर्मका आवासक्षेत्र— धीर रहे, रागद्वेषसे परे रहे उस भावको कहते हैं समाधिभाव, समता भाव, सत्यभाव। विषय कथायोंमें चित्तको लगाकर अपनेको असमाधिरूप नहीं बनाना और उपद्रव उपसर्गोंके आने पर अपनेको कायर नहीं बनाना, सो सब साधुसमाधि हैं। अपन सब जानन देखनहार जीव हैं ना। अपनको करना है धर्म। तो अपना धर्म अपने से बाहर कहीं गिलेगा क्या? पुस्तकोंमें, मंदिरोंमें, मूर्तियोंमें, गुरुवोंमें, अन्य लोगोंमें किसी जगह अपना धर्म मिल जायेगा क्या? कहीं न मिलेगा? बाह्य प्रशस्त पदार्थोंकी तो सेवा उपासना इसलिए करते हैं कि उनकी सेवामें रहकर मेरेमें ऐसी समाधि प्रकट रहे, मैं अपने आपके धर्मको पा लूँ ऐसी पात्रता रहे, दुर्भावोंका आक्रमण न हो सके, इसी कारण बाहरमें देव उसको ही माना जो आत्मधर्मके प्रकट आदर्श है। जो आत्मधर्मके अवलंबनके प्रसादसे परम आनन्दमय, ज्ञानमय हो गए हैं वे देव हैं। देवके स्वरूपमें हाथ पेर न देखना, उनकी भक्तिमें किया गया स्थानका शृङ्खाल सजावट न देखना, लोग भक्ति पूजन करते हैं यह न देखना, किन्तु वहां केवल ज्ञानपुज्जल देखना। देव ज्ञानपुञ्ज हैं, ऐसे देवका आश्रय हम भक्तिवश करते हैं पर वहां भी परमार्थतः इसलिए करते हैं कि मुझे अपने स्वरूपकी स्मृति हो जाय। ऐसो ही बात शास्त्रकी, गुरुवोंकी समझना।

अन्तःपुरुषार्थ— भैया! परमार्थतः तो अपनी समाधि अपने आपके चित्तको समाधानरूप रखनेसे प्रकट होती है। किसीसे भीख मांगनेसे आनन्द न मिलेगा। किसीकी आशा बनाए रहनेमें आनन्द न मिलेगा। ये बाह्यपदार्थ एक भी मेरे साथ न रह सकें, उन पदार्थोंकी ममता करनेसे आनन्द न मिलेगा। जगत्के हृश्यमान पुरुष ये सब मायारूप हैं, कर्मोंके ग्रेरे हैं, स्वयं दुःखी हैं उनमें अपना यश, अपना नाम, अपना पोजीशन कुछ

बना लेनेसे आनन्द न मिलेगा । आनन्द तो आनन्दकी जगहसे मिलेगा । जो आनन्दनिधान ज्ञायकस्वरूप है उसकी ज्ञाना द्वारा उपासना करे, आनन्द मिलेगा । पहिले अपने आपको टटोलो, अपने आपका अनुभव करो, अपने आपके स्वरूपमें रमण करो, अपनी आत्मसाधनामें जो अनुकूल पढ़े ऐसा कुछ बाहर मिले कोई देव, शास्त्र गुरु उनका संग करो, उनकी उपासना करो । भीतरमें अपनेसे उसे तौल लो और अपने प्रयोजन में अनुकूल यदि बाहरमें मिलते हैं कोई तो उनका संग करो । बाहर देख कर भीतरमें निर्णय न बनाओ किन्तु भीतर देखकर बाहरमें निर्णय बनाओ । जो अपने आपमें संकल्प विकल्परहित परमविश्रामसे स्थित होनेके कारण आनन्दका अनुभव करके उसके अनुकूल बाहरमें निर्णय देते हैं उनका मार्ग सही है । पहिले खुदको तो समाधानरूप करो, खुदका यह समाधान निज ज्ञायकस्वरूपके अनुभवके बिना आ नहीं सकता ।

सम्यक्त्व समाधिके बिना क्रियावोंका भार— अपने आपका सम्यक् दर्शन हो जाय तो यही समाधिभावना है । इसे ही सम्यक्त्व कहते हैं । अपने आपके सच्चे स्वरूपका पता लग जाना, इस स्थितिको किसी भी शब्दसे कह लो । इस स्थितिकी प्रसिद्धि सम्यक्त्व शब्दसे की जाती है । यह सम्यक्त्व जिसमें न हो और वह मंदकषाय रखता हो, बड़ों चारित्र पालता हो, बड़ा ब्रत किया करता हो, बहुत बड़ी तपस्या करता हो पर इन सब क्रियावोंका बोझ एक पत्थरकी तरह है । देखा होगा माणिक और पत्थर । माणिक कितना छोटा होता है किन्तु लाखों करोड़ोंकी कीमत रखने वाला होता है और यह पत्थर जिसमें मकान बना करते हैं, ये देशी पाषाण किनने ही ढेर किये जायें तो एक मणिके बराबर मूल्य नहीं रख सकते । तो जैसे मणिका लोकमें आदर है और उस पत्थरके ढेरका आदर नहीं है यों ही समझो सम्यग्दर्शन करके सहित यदि ये चारित्रब्रत, तप हों तो इनकी पूज्यता है, आदर है, महिमा है और सम्यक्त्व बिना ये सब बातें चलें तो पाषाणकी तरह एक बोझमात्र हैं । अब समझ लीजिए अपने आप की सफाई, अपने आपकी दृष्टि, अपने आपकी समाधि कितना महत्व रखती है ? यही सब अपने लिए समाधिभाव हैं ।

अन्तःसमाधि व बाह्यसमाधि— समाधिभावके प्रेमी ज्ञानी संत जब कभी दूसरे धर्मात्माजनों पर संकट आया देखते हैं तो उन सब संकटोंको दूर करनेका उनका यत्न चला करता है । अपने आपको समाधिरूप बनाने का यत्न करें और यथाशक्ति अन्य जीवोंके चित्तको समाधानरूप बनानेका यत्न करें, समाधिका परिणाम रक्खें यह साधुसमाधि भावना है । इस

भावनाके प्रतापसे यह ज्ञानी पुरुष ऐसी विशिष्ट पुण्य प्रकृतिका बंध कर लेता है जिसके उदयमें यह त्रिलोकाधिपति तीर्थकर महापुरुष होता है। यही तीर्थकर प्रकृतिका बंध करने वाले जीवकी समाधिभावना है।

६-वैयावृत्य

वैयावृत्य भावना— साधुसमाधि भावनामें अभ्यस्त पुरुष वैयावृत्य करनेका सदा भाव रखता है। किसी पुरुषको कोई कठिन रोग हो जाय ऐसी स्थितिमें उसकी वैयावृत्य करना, वैयावृत्यकी भावना करना सो ही वैयावृत्यभाव है। कितना प्रेम भरा होता है एक धर्मात्मापुरुषमें? उसके लिए किसी प्रकारकी कैद बांधना, सीमा करना यह उसके स्वरूपको बिगाड़ा है। जो हो गये ज्ञानी पुरुष वे सब कुछ स्वयमेव करते हैं जो कुछ उचित है। बुन्देलखण्डका एक एक पुराना चरित्र है। एक राजा मर गया। तो राजमाताको थोड़ा राज्य भार दिया गया और और बाकी भाग बादशाहने अपने हाथमें ले लिया। जब वह राजपुत्र बड़ा हुआ तो राजमाताने निवेदन किया कि अब मेरा लड़का बड़ा हो गया, इसे राज्यभार दिया जाय। तो बादशाहने उसको बुलाया। राज्यमाताने पहिले ही उसको खूब सिखा दिया था। बेटा बादशाह यों पूछे तो जवाब देना यों पूछे तो यों जवाब देना, यों पूछे तो यों जवाब देना। राजपुत्र बोला— मां यदि इनमें से एक भी बात न पूछे तो क्या जवाब देंगे? राजमाता बोली— बेटा! अब तुम जरूर सभी प्रश्नोंका उत्तर दे लोगे। जब तुम इतना तर्क उपस्थित कर सकते हो तो तुम जरूर उत्तर दे लोगे। बादशाहके यहां जब राजपुत्र पहुंचा तो बादशाहने कुछ न पूछा, केवल दोनों हाथ राजपुत्रके पकड़ लिए और कहता है कि बोलो अब तुम क्या कर सकते हो? तो राजपुत्र झट बोल उठा कि अब क्या है, अब तो मैं रक्षित हो गया। विवाहमें भाँवरके समय पुरुष स्त्रीका एक हाथ पकड़ लेता है तो उसे उसकी जीवन भर रक्षा करनी पड़नी है। मेरे तो दोनों ही हाथ आपने पकड़ लिए, अब मुझे क्या ढर है, मैं तो पूर्ण रक्षित हो गया। तो जिस ज्ञानी पुरुषमें स्वयमेव ही कला प्रकट हुई उसे अब व्यवहारकी कलावोंको क्या समझाना है? ऐसे पुरुष दूसरे धर्मात्मा पुरुषोंकी योग्य वैयावृत्य करते हैं।

सेवकतामें स्वामित्व— एक ऐसा कथानक है कि गौतम ऋषिने एक बार बाणसे बिघे हुए पक्षीको अपनी गोदमें पाया तो वह शिकारी आकर लड़ने लगा कि यह मेरा शिकार है, इसे तुम मुझे दे दो। तो गौतम बोले कि यह हंस तुम्हारा नहीं है हमारा है। शिकारी बोला तुम्हारा कैसे है?

हमने ही तो इसका शिकार किया है, हमारे ही द्वारा मारा हुआ बाण इस के विधा है। तो हमारा ही तो हुआ, तु हारा कैसे हुआ? गौतम बोले कि इस हंसका मालिक इसका मारने वाला है या इसकी रक्षा करने वाला है? न्याय गया राजाके पास। वहां बात आयी कि इस हंसका मालिक कौन है, जो प्राण ले ले वह मालिक है या जो प्राणोंकी रक्षा करे वह मालिक है? आप सब भी अपने-अपने अनुभवसे बाबो। जो प्राणोंकी रक्षा करे वह मालिक है। जो प्राण ले वह मालिक नहीं है। तो यों ही जानों कि इस विश्वका नेता कौन बन सकता है? जो सर्वविश्वकी रक्षाका भाव करे वही तो विश्वका नेता बन सकता है। चाहे कोई जानकर सेवा करे, चाहे किसीसे दूसरेकी सहज सेवा बन जाय किन्तु जो सेवक है उसीको ही स्वामी कहा जा सकता है। जो सेवक नहीं है वह स्वामी नहीं है।

सेवकतामें स्वामित्वपर एक दृष्टान्त—घरमें रहने वाला बूढ़ा बूढ़ा आदमी जो घरका मालिक कहलाता है घरमें १०-५ बच्चा-बच्ची सभी हैं उनका यह मालिक कहलाता है, स्वामी कहलाता है तो घरका वह स्वामी यों ही हो गया क्या? घरके उन १०-५ लोगोंकी सेवाके लिए, उनका दिल रखनेके लिए अहर्निश परिश्रम करता है वह बूढ़ा-बूढ़ा, उनकी सेवा करता है यों कहो, उस सेवाके बदलेमें वह घरका स्वामा कहलाता है। स्वामी वह होता है जो सेवा करता है। ज्ञानी अन्तरात्माके विश्वके समस्त प्राणियोंकी सेवाका भाव रहता है और भावना ही नहीं किन्तु उस तरहका आचरण भी होता है कि जिससे विश्वके प्राणियोंका कल्याण हो। तो ऐसी वृत्तिमें, ऐसे भावमें तीर्थकर प्रकृतिका बंध होता है।

वैयावृत्यका बाह्यविस्तार व वैयावृत्यका मूलभाव—यहां वैयावृत्य नामकी भावना कही जा रही है। कोई रोगसे पीड़ित मुनि हो अथवा श्रावक हो उसे औषधि देकर निवास देकर सेवा शुश्रूषा करना, विषय करना, आदर करना, दूसरोंके क्लेश दूर करनेका बल्क करना यह सब वैयावृत्य है। वैयावृत्यका अर्थ लोकमें सेवाके नामसे प्रसिद्ध हो गया है। पर वैयावृत्य शब्दका सीधा अर्थ सेवा नहीं है। लोग कहते भी हैं कि हम आपकी वैयावृत्ति करें, मतलब आपकी सेवा करें, पैर दाढ़ें, कुछ करें। पर वैयावृत्यका अर्थ सेवा नहीं है। ऐसे कई शब्दोंका रहस्य है कि जिनका अर्थ और कुछ है पर उसमें जो फलित वात होती है का कारण-रूप वात होती है, कुछ सम्बंधित वात होती है उसका नाम प्रसिद्ध हो जाता है। वैयावृत्त कहते हैं व्यावृत्त पुरुषके परिणामको। व्यावृत्त पुरुषका जर्ज है जो आरम्भ परियह रागद्वय झक्कट इन वातोंसे निवृत्त हो गया है। रिटार्ड पुरुषकी वृत्ति

का नाम है वैयावृत्य । जो संसार शरीर और भोगोंसे रिटायर्ड हो गया है उसका जो परिणाम है उस परिणामका नाम वैयावृत्य है । अब सोचिये ज्ञानी है, विरक है ऐसे पुरुषका परिणाम धर्मात्माजनोंको देखकर उनके दुःख दूर करनेका अवश्य होता है । इसलिए उस व्यावृत्य पुरुषके परिणाम पर तो लोगोंकी दृष्टि नहीं गयी और उस परिणामके फलमें जो चेष्टा हुई है उस चेष्टाको लोग घण्टा कर लेते हैं, और प्रसिद्ध हो गया है वैयावृत्य मायने सेवा । सेवा करके कोई दूसरे पर ऐहसान नहीं करता है किन्तु सेवा करने वाले पुरुषने अपना कल्याण किया, अपनी वेदना मेटी, अपनी अशांति दूर की । ऐसा द्रव्यमें स्त्रभाव ही नहीं है कि कोई द्रव्य किसी दूसरे पदार्थका कुछ करदे, उसका ऐहसान बना दे । जो कोई भी पुरुष जो कुछ करता है अपनी शांतिके लिए करता है ।

सेवा और वास्तविक वैयावृत्य— वैयावृत्य शब्दका सेवा अर्थ क्यों लागू हुआ ? उसका मूल इतिहास यह है कि अपना कल्याण चाहने वाले पुरुष इस उत्सुकताको चाहें कि मेरेमें विषयकषाय, क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय आदि कोई गंदी बात न आये तब तो भला है । खोटे परिणाम करके कुछ भी संसारकी बात बना ली जाय, घर, मकान, बैमव, दोस्तजन कुछ भी बना लिए जायें पर यह तो बतलावो कि वह सब पुद्गलोंका ढेर हमारे चैतन्यस्वरूपमें कैनसी किरण पहुंचा देगा ? किसको आनन्द ला देगा ? शांति ज्ञानभावनाके बिना सम्भव नहीं है । बैमव पर शांतिका विश्वास करना निरा व्यामोह है । जो कोई भी पुरुष जो कुछ भी करता है वह अपनी शांतिके लिए करता है । मान लो आप कभी कुछ हमारी सेवा करते हैं तो आप स्वयं अपनी शांतिके लिए सेवा करते हैं और हम तुम्हारी कुछ सेवा करते हैं तो अपनी स्वयंकी शांतिके लिए करते हैं । ऐसा स्वरूपमें ही नहीं पड़ा है कुछ कि हम आपका कुछ काम कर दें, आप मेरा कुछ काम कर दें । तो अब जान लीजिए कि सेवा करने वालेने स्वयंका कितेना लाभ लनाया ?

परोपकारका विशुद्ध आशय— भैया ! सेवा करके दूसरों पर ऐहसान डालनेकी बात मूढ़ता है । वहां तो यह देखो कि सेवा करके हमने अपने आपको कितना सुरक्षित और सही बना लिया है ? वह कल्याणका चाहने वाला पुरुष इस स्थितिके लिए उत्सुक है कि मेरेमें विषयकषाय आदिक भाव उत्पन्न न हों, तो इसका उपाय क्या है ? इसका साक्षात् उपाय तो यह है कि ज्ञान और ज्ञानमें लबलीन रहें, यथार्थ तत्वके ज्ञाता रहें और शुद्ध ज्ञान रखें, आत्मदृष्टि करें । यदि यह नहीं बन सकता

तो परोपकारमें लगें। दो ही तो बातें हैं या तो अपना स्वच्छ परिणाम बनावें, और यह भी न हो सके तो परोपकारमें लगें। किन्तु परोपकार करते हुए यदि यह भावना रक्खी गयी कि हम दूसरोंका उपकार कर रहे हैं, दूसरोंका ऐहसान कर रहे हैं, दूसरोंको हमारे उपकारके प्रति क्षति रहना चाहिए, तो परोपकार करनेका श्रम करके भी वह लाभ नहीं उठा पाया।

वैयावृत्यका महत्व— नौयावृत्य कितना शुद्ध कर्तव्य है, इसका सम्बन्ध पगचापीसे नहीं, कोई सेवा कर देनेसे नहीं, इसका सम्बन्ध नौयावृत्य करने वालेके स्वयंके विशुद्ध आशयसे है। नौयावृत्य १० प्रकारके मुनिश्वरोंकी की जाती है। इसलिए १० भेद कहे गए हैं और वैसे व्यापक-दृष्टिसे तो सारे विश्वके प्राणियोंके प्रति व्यावृत्त पुरुषका वैयावृत्यरूप भाष्य होता है। जैसे कि ग्रन्थोंमें भी बताया है और वैसे भी विचारा जाय तो उत्तरोत्तर जैसा विकसित प्राणी हो जाता है, इस अधिक विकास वालेकी हिंसा अधिक पापरूप बनायी गयी है। एकेन्द्रियसे दो इन्द्रियकी हिंसा अधिक, दो इन्द्रियसे तीन निन्द्रियकी हिंसा अधिक, उससे चौं इन्द्रियकी हिंसा अधिक और उससे असंज्ञी पञ्चेन्द्रियकी हिंसा, अधिक और उससे संज्ञी पञ्चेन्द्रियकी हिंसा अधिक, यों उत्तरोत्तर क्रूर परिणाम बताया गया है। और संज्ञी पञ्चेन्द्रियमें ज्ञानी पुरुषकी हिंसा अधिक, उस ज्ञानीसे ब्रती ज्ञानी पुरुषकी हिंसा अधिक और ब्रतियोंमें भी श्रेष्ठ योगी पुरुषोंकी हिंसा अधिक, यों उत्तरोत्तर अधिक और क्रूर आशयपूर्ण बताया गया है। इस ही आधार पर देख लो वैयावृत्य करनेका महत्व उन योगीश्वरोंको बताया गया है।

वैयावृत्यके प्रकार— (१) आचार्योंकी वैयावृत्य कहो याने जो सब की रक्षा करते हैं उनका वैयावृत्य, (२) उपाध्यायोंकी वैयावृत्य याने जो सर्वसाधुवोंको पढ़ायें लिखायें उनका वैयावृत्य, (३) तपस्त्रियोंकी वैयावृत्य, (४) शिश्वा लेने वाले शिष्यों, साधुवोंकी वैयावृत्य, (५) रोगसे कमजोर संतों की वैयावृत्य, (६) परम्परागत योगियोंकी वैयावृत्य, (७) आदर्श योगीके अनुयायियोंका वैयावृत्य, (८) सर्वसाधुवोंके संघटी वैयावृत्य, (९) मनका हरण करने वाले हों, ऐसे विशिष्ट योगियोंकी वैयावृत्य, (१०) अनगार सर्व-साधुवोंका वैयावृत्य। यों अनेक वैयावृत्यके भेद लगाये गए हैं। शुद्धभावकी हुई सेवाका नाम वैयावृत्य है। शारीरिक लेशाढ़ा नाम ही वैयावृत्य नहीं है, क्योंकि वैयावृत्य तपमें शामिल है और इह होता है अपने परिणामोंसे। सो शुद्ध वैयावृत्य पुरुषका जो परमार्थ कहणासहित सेवाका यन्त्र

होता है वह वैयावृत्य है।

देहको सदुपयोगका अनुरोध— भला बतलावो शरीर हृष्ट-पृष्ट मिला है इसे आलस्यमें रखवा जाय, आरामतलबीमें रखवा जाय तो भी यह अपने समयपर ही नष्ट होगा। क्या लाभ पाया ? जब तक इसका समागम है तब तक इससे दूसरोंका उपकार न किया गया और यह स्वयं यों विनष्ट हो गया। इसमें कौनसा विवेक पाया ? दूसरी बात इस शरीर को अपने उपकारमें परके उपकारमें लगाया जाता रहे तो यह शरीर भी ठीक रहेगा। शरीरको आलस्यरूपमें बनाये रहनेका उपाय तो शरीरका विनाश करनेका उपाय है।

मनके सदुपयोगका अनुरोध— भैया ! यह श्रेष्ठ मन पाया तो इस मनसे दूसरोंका भला सोच लिया जाय। ऐसा यह मन मिल गया अनन्त कालमें बहुत मुश्किलमें और इसे यों ही दुरुपयोगमें डाल दिया तो फिर मन मिलनेकी आशा न रखें। लो असज्जी बन गए, एकेन्द्रिय आदिक बन गए तो फिर कहाँ यह मन मिलेगा ?

धनके सदुपयोगका अनुरोध— धन मिला है तो आत्माका जो ज्ञानानन्द परिणमन है, अमूर्त भावात्मक परिणमन है वह कहाँ धनको नहीं खचोर ले आता या इस शरीरके आंख, नाक, कान, हाथ, पैर आदि धन को नहीं समेट पाते। यह तो शुद्धभाव पहिले किया गया था, उनसे उपर्जित जो पुण्यकर्म है उसके उदयका ठाठ है। इसको पाकर कोई गर्व करे अँथवा उस धनका दुरुपयोग करे, परके उपकारमें न लगाये तो भाई यह धन तो विजलीकी तरह चंचल है, जितने काल ठहर गया सो ठहर गया, इसका वियोग तो होगा ही। अरे जब तक यह वैभव है उसका सदुपयोग कर लीजिए।

वचनके सदुपयोगका अनुरोध— ये जो वचन मिले हैं इनसे दूसरों की सेवा कर लीजिए। दूसरोंकी सेवासे कुछ घटता नहीं है, बल्कि सम्मन बढ़ता है। इन वचनोंका अच्छा प्रयोग करें, नम्रता भरी बातें बोलें। इन वचनोंको यदि लड्डमार ढंगसे प्रयोगमें लिया गया तो आगे इन वचनोंके योग्य जो जीव हैं उन जीवोंसे सम्बंधित देह मिलनेकी आशा भी न करो। जिन जीवोंको जीभ नहीं मिली वे जीव हैं एकेन्द्रिय। प्रथम तो देखो असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीवोंके जिवहा रहते हुए भी वे ऐसी भाषा नहीं बोल सकते। गाय, बैल, भेस, गधा आदि चीजीं, औं, ओं, में में किया करते हैं और हम आपको जीभ मिली है तो कैसे-कैसे वचन बोल सकते हैं, भाषा बोल सकते हैं। फिर भी कुछ अपनेमें शक्तिका सदुपयोग न करें,

वचनोंका सदुपयोग न रखनें तो आप समझो कि वया दण्डन रहा ?

पढ़ सियोक। उत्तरकर्ता— आपके पड़ सा आपक धनकं भूखे नहीं हैं क्याँकं व्यवस्था हा ऐसी है कि जो कमाये सो खाये पिये । क्या अधिकार है दूसरोंका ? भले ही कदाचित् कठिन दुभिक्ष पड़ जाय और प्राणोंकी बाजी लग जाय तो पड़ोसी पड़ोसी पर टूट पड़े । किन्तु किसी कठिन अनिवार्य परिस्थिति बिना पड़ोसी पड़ोसीसे धनकी आशा नहीं रखता । तब पड़ोसी तो केवल प्रिय वचनोंके भूखे हैं । प्रिय वचनोंकी आशा पड़ोसी रख सकते हैं धनकी आशा नहीं रख सकते । पड़ोसीमें ही लखपति का घर है और पास ही ॥। रुपयांगोज कमाने वाले मजदूरका घर है पर मजदूर अपने दिलमें यह आशा नहीं रखता कि मेरे को कुछ ये सेठ जी दे दें, क्योंकि जानता है कि मेरा क्या अधिकार है इससे कहने का, मगर हां रक्खे कोई ख्याल तो यह उसकी उदारता है, पर हित मित प्रिय वचन सुननेको तो हर एक कोई उत्सुक है ।

दुर्वचन बोलनेका अन्याय— वचन बोलनेकी शक्ति है तो इसका हम आप सदुपयोग करें, जिससे स्वयं भी सुखी हों और चार लोग भी सुखी हों । अप्रिय वचन बोलकर खुद तो अशांत होता ही है तो ठीक ही है किन्तु उसके बातावरणमें रहने वाले अनेक पुरुष भी अशांत हो जाते हैं । जैसे कोई भैंस कीचड़ भरे पोखरेमें कूद पड़ती है तो उसका शरीर तो कीचड़से भिड़ेगा ही किन्तु उसके किनारे निकट खड़े हुए पुरुष भी कीचड़ से लथपथ हो जाते हैं । तब समझ लीजिए कि अप्रिय वचन बोलने वालों ने कितनों पर अन्याय किया है, खुद दुःखी रहा, जिससे बोला वह दुःखी रहा और उसके संसर्गमें आने वाले अनेक लोग दुःखी रहे । तो तन, मन, धन, वचनसे सेवाका परिणाम रखने वाले जीव कितना उपकारी होते हैं, पता लगा लीजिए ।

वैयाकृत्यके विवरणसे मूल शिक्षा— इस वैयाकृत्य शब्दके ही अर्थसे दो काम तो अपने समझ लीजिये— (१) निजशुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप अन्तस्तत्त्वकी हृषि रखिये, उसके निकट रहिये, आश्रय करिये, सबको भूल जाइये, सबसे ऊँचा यह काम है, महान् पुरुषार्थकी बात है यह । इस का संस्कार रखिये और ऐसा उपयोग न बनाया जा सके तो धरके उपकार में अपनी वृत्ति रखिये, परका उपकार भी हम अपने भले के लिए कर रहे हैं कि मेरा परिणाम सही रह जाय, विषय कषायोंमें न वह जाय । इसके लिए परोपकार धर्म अंगीकार किया जा रहा है । दूसरों पर ऐंठ बगराने के लिए, दूसरोंको ताना मारनेके लिए परोपकार नहीं होता । किसीको

बद्धिया भोजन स्थिला दिया जाय और खा चुकने पर यों कहा जाय कि कितना बद्धिया भोजन स्थिलाया तुम्हें, हाँ साहब बहुत अच्छा स्थिलाया। ऐसा तो तुम्हारे बापने भी कभी न खाया होगा। अहो इस ताने से उसके चित्तमें यह आ जाता है कि कोई ऐसी दवा पी लें कि अभी कैसे हो जाय। परोपकार ताना देनेके लिए होता है क्या? परोपकार तो इस विवेकी ने अपनी रक्षाके लिए किया है। इस कारण परोपकार करके भूल जाना चाहिए कि मैंने किसीका परोपकार किया।

वैयावृत्त्य भावनाकी आस्था— भैया! करते जावो परोपकार और भूलते जावो इस बातको कि मैंने परोपकार किया। यों निष्कपट भावसे शुद्ध आशय सहित जीवोंकी सेवा करना, उनको संकटोंसे बचाना, धर्ममें उन्हें स्थिर करना यह सब वैयावृत्त्य है। ऐसी भावना ज्ञानी पुरुषमें होती है और इस भावनाके प्रसादसे वह ऐसी महती पुण्य प्रकृतिका बंध करता है कि जिसके अगले भवमें उत्पन्न होने से पहिले ही दुनियामें आनन्दकी खलबली मचने लगती है। जन्मके समयमें भी और उनके जीवनके अनेक विशेष समयोंमें भी। कुछ भी हो इसकी भी आशा न करना, किन्तु अपना प्रथम बचाव करना है और आत्मतत्त्वका शुद्धस्वरूप निहारना है। इसके प्रयोजनमें वैयावृत्त्यकी भावना रखनी चाहिए।

वैयावृत्त्यमें प्रभुकी आज्ञाका पालन— जो प्राणी समर्थ हैं तनसे, धनसे, बचनसे ऐसे पुरुष भी अपने बलको छिपायें तो वे अपनी उदारता का घात करते हैं। यदि वे वैयावृत्य नहीं करते हैं तो उन्हें धर्मरहित समझना चाहिए। अपनेमें सामर्थ हो और उस सामर्थ्यका उपयोग न करें, दूसरे रोगी दुःखी अशरण पुरुषोंको देखकर, धर्मात्माजनोंको देखकर उनकी सेवा करने का परिणाम नहीं हो, तो उन्हें धर्मरहित समझना चाहिए। उन्होंने तीर्थकर प्रभुकी आज्ञाका पालन नहीं किया है, जो प्रभु का उपदेश है उसे नहीं माना है। अपना आचरण उन्होंने बिगाढ़ा है और धर्मकी प्रभावना भी नहीं की है। जिन जीवोंको धर्म पुरुषोंको देखकर भी उनमें अनुराग नहीं जगता है, वैयावृत्त्यका भाव नहीं जगता है तब यह समझना चाहिए कि उनमें धर्मकी रुचि उत्पन्न नहीं हुई है। जिसको धर्मसे प्रेम होता है उसको धर्मात्मा जनोंसे अवश्य प्रस होता है।

वैयावृत्त्य करने वालेकी प्रमुख दृष्टि— धम कहीं यों ही अधरमें नहीं लटका करता है। जो आत्मा है, धर्मात्मा है वहों तो धमकी मूर्ति है। वैयावृत्त्य नामक तप बहुत ऊँचा स्थान रखता है। वैयावृत्त्य करने वाले पुरुष भक्ति बढ़ाते हैं परमेष्ठीमें, आस्था बढ़ाते हैं परमेष्ठीमें। अपनै कल्याण

की भावना उनमें प्रबल होती है। और भी देखो—धनका खर्च कर देना सुगम है पर अपने तजसे अपने श्रमसे वैयावृत्त्य करना, रोगियोंकी सेवा करना या अनेक प्रकारसे उनकी वैयावृत्त्य करना यह कठिन है। वैयावृत्त्य में अन्तरसे कितना उत्कृष्ट परिणाम भरा हुआ है? वैयावृत्त्यके रुचियाको अन्यके अवगुण ढाकनेका और गुण प्रकट करनेका एक स्वभाव हो जाता है। जो दोषदृष्टा पुरुष हैं उनके वैयावृत्त्य सम्भव नहीं है। ऐसे ही गुणोंकी दृष्टि रखनेकी तीव्र रुचि प्रकृति होती है और इस परिणामसे वे तीर्थकर प्रकृतिका बंध करते हैं।

१०—अर्हद्भक्ति

अर्हद्भक्तिका अर्थ— यह अर्हद्भक्तिका नामकी १० वीं भावनाका वर्णन चल रहा है। अरहंतकी भक्ति करना सो अर्हद्भक्ति है। अरिहंत शब्दका अर्थ क्या है? अरिहंत नामका कोई पुरुष न था, किन्तु जो पूज्य पुरुष हुए हैं उनका ही नाम अरहंत है। जो पूज्य पुरुष हैं, पूज्य आत्मा हैं उनका नाम अरहंत है। 'अर्ह पूज्यायां' धातु है उससे अर्हत् बना है। अरि मायने जीवके शत्रु, जीवके शत्रु हैं रागद्वेष मोहभाव अथवा धातियाकर्म, मोहनीयकर्म, इनका जिसने विनाश कर डाला है ऐसे पवित्र आत्माको अरहंत कहते हैं। ऐसे पवित्रप्रभु सर्वज्ञ निर्दोष आत्मा की भक्ति करना सो अर्हद्भक्ति है। सकल परमात्माके गुणोंका अनुराग होना इसका नाम है अर्हद्भक्ति।

अर्हद्भक्तिका प्रताप— जिसने पूर्वजन्ममें इन सोलह भावनाओं को भाया था और उनके तीर्थकर प्रकृतिका बंध हुआ था, अब इस भवमें उनके गर्भ समयसे लेकर निर्वाण समय तक देव और इन्द्र और बड़े-बड़े पुरुष प्रभुसेवामें उपस्थित रहते हैं। तीर्थकर नियमतः मोक्ष प्राप्त करते हैं इसलिए तीर्थकरकी बात विशेषतया कही जाती है। वैसे अरहंत जो तीर्थकर नहीं हुए वे भी होते हैं, फिर भी ये ये अरहंत भगवान् ऐसा सुनते हुए विशेषतया तीर्थकर अरहंतपर दृष्टि दीजिए। यह सकल परमात्मा इनके तीर्थकर अरहंत जन्मकालमें गर्भ कालसे ६ महीना पहले से बड़ा विशेष महोत्सव हुआ था। बाबावर १५ महीने उनके माता पिताके आंगनमें रत्न-वृष्टि हुई थी। जन्मकालमें इन्द्रने अभिषेक किया था। तप कल्याणकमें बहुत समारोहके साथ बनमें उत्सव मनाया था, जब कि उन्होंने दीक्षा ली थी। जब केवलज्ञान हो जाता है तब समवशरणकी रचना हुई थी।

तीर्थद्वारका मौन और दिव्य उपदेश— प्रभु तीर्थकर मुनि अवस्था के बाद मौनसे रहे। वे फिर कभी बोले ही नहीं। केवलज्ञान होनेपर दिव्य-

ध्वनि स्थिरती है वह बोलनेमें शामिल नहीं है, पर वचन अवश्य है। इच्छा करके रागसंहित वचनरचना बनाकर वे नहीं बोले। मुनि अवस्थाके बाद उन्होंने पूर्ण मौन रखा। गृहस्थावस्थामें तो बोल रहे थे, पर मुनि होनेके बाद पूर्ण मौनसे रहे। छद्मस्थ अवस्थामें रहते हुए, अल्पज्ञ रहते हुए वे क्या बोलें—क्या देशना करें? ऐसी बड़े पुरुषोंकी प्रकृति होती है। क्वबल-ज्ञान होनेपर दिव्यध्वनि खिरती है और तब बहुत बड़ी सुन्दर रचना की जाती है। कोई साधारण पुरुष व्याख्यानके लिए आये तो मंडप बनता है, बड़ा प्रबंध होता है और फिर जो प्रभु हों, सर्वज्ञ हों, उनकी जब दिव्यध्वनि खिरती हो तो उनका मंडप बनानेकी, समवशरण बनानेकी सामर्थ्य मनुष्योंमें भी न थी। समवशरणकी रचना देवों और इन्द्रोंने की। ऐसे तीर्थंकर देवकी भक्ति करना सो अहंदभक्ति है। अहंदभक्तिकी प्रधानता उनके गुणविकासको लक्ष्यमें लेकर चरित्रके स्मरणमें है।

भक्तोंका लक्ष्य और प्रभुकी ओर आकर्षणका कारण— प्रभुके चरणोंमें बड़े पुरुष चक्री इन्द्र देव खिचे चले आ रहे हैं। यह किसका प्रताप है? यह प्रभुकी वीतरागताका प्रताप है, ज्ञान और वैराग्यका प्रसाद है। ज्ञान और वैराग्यकी ओर भक्तकी दृष्टि होती है और उससे अहंदभक्ति प्रवल हो जाती है। जिसके भक्तिका कुछ लक्ष्य नहीं है उसकी भक्ति नौकर और मालिकके हिसाब जैसी रहती है। हे प्रभु! मुझ गरीब की बिनती सुन लेना, मुझे कष्ठोंसे उबार देना, तुम्हीं एक तरनतारन हो, तुम्हारे पूछे विना हमारा गुजारा ही नहीं है, क्वबल एक दीनता भरा यह व्यवहार है, पर प्रभुसे वह मिलन नहीं हो पाता है जिस मिलनमें प्रभुके निकट संगतिका लाभ प्राप्त हो। कैसे लाभ मिले? जब प्रभुके गुणोंकी बात ही नहीं है तो अन्तरसे शुद्ध अनुराग कैसे बढ़े, और शुद्ध अनुराग हुए विना प्रभुपूजाका कोई फल नहीं मिल सकता है। विषयकषायोंके पौष्णेके लिए, अपने दुनियाकी स्वार्थकी पूर्तिके भावसे जो पूजा की जाती है वह है क्या? एक रिश्वतसी समझो। जैसे यहां कोई किसीसे रिश्वत देकर अपने संकट मिटाता है ऐसे ही इस प्रभुसे भी अपने संकट मिटाने के लिए पूजा की है। वह आलहाद कहां है, उतना प्रेम कहां है, वह अभेद स्वभवमग्नता कहां है? प्रभुके अन्तस्वभावकी दृष्टि करके जो अहंदभक्ति होती है उसके समय जो विशुद्धि जगती है उससे यह तीर्थंकर प्रकृतिका बंध कर लेता है।

तीर्थंकर प्रभुके जन्मतः अतिशय— तीर्थंकरका क्या स्वरूप है? उनकी यह चर्चा है। सर्व अन्य मनुष्योंमें असम्भव ऐसी उत्कृष्ट वृत्ति

तीर्थकर महापुरुषमें होती है जिसके जन्मकालसे ही इतने अतिशय होते हैं। सुन्दरशरीर, सुगंधित शरीर, पसेवाकार नहीं हो, नीहार नहीं होना, प्रियहित बोलनेकी उनकी प्रवृत्ति रहे, जिनके शरीरमें भी अतुल्यबल हो, जिसका रुधिर रवेत रंगका हो, जिसके शरीरमें १००८ लक्षण हों, शरीर सुडौल वज्रकी तरह मजबूत हो, ऐसे जिसके जन्म कालसे ही अतिशय है।

सुभिक्षता, गगनगमन व चतुर्मुखदर्शनका अतिशय— केवलज्ञानके समय याने जब उन्हें केवल्य अवस्था प्राप्त होती है, पूर्ण सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है, तब अनेक अद्भुत अतिशय और होते हैं। वे जहाँ बिराजे हुए हैं उसके चारों ओर चार चार सौ कोस तक सुभिक्ष होता है। कोई संकट नहीं रहता है। सभी लोग मुख्ली रहते हैं, किसी भी प्रकारका किसीके रोग नहीं होता है। न अतिवर्षा और न अकाल रहता है, किसी भी प्रकार के उपद्रव नहीं रहते हैं। ये सब केवलज्ञान होने पर अतिशय होते हैं। वे केवली प्रभु किर जमीनपर चलते हुए न मिलेंगे। वे आकाशमें ऊपर चलते हैं। ऊँचा मुख उठाकर अपन देखें तो उनके दर्शन हो सकते हैं। भगवान् हम लोगोंकी तरह खेलते बोलते हुए कहीं बीचमें मिल जायें क्या ऐसा हो सकता है? आप सोचो तो सही कि जो वीतराग है, सर्वज्ञ है जिनके क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेष परिग्रह आदम्बर कुछ भी नहीं है वे हम लोगोंको कैसे मिलेंगे? वे बोल न सकेंगे। उनकी तो यह बान है कि वे सारे विश्वको जानते हैं, फिर भी आत्मीय आनन्द रसमें लीन रहा करते हैं। उनके समवशरणके अनुपम देवरचना होती है, जहाँ वे आकाशमें ही ऊँचे स्थलपर विराजते हैं। मनुष्योंके बहाँ पहुंचनेके लिए चारों ओर सीढ़ियाँ होती हैं। बहाँ मनुष्य तिर्थञ्च अंधे, लंगडे, लूले सब जाते हैं। उन सब जीवोंको प्रभुके दर्शन होते हैं। चारों ओर सभा जुड़ी है, कहीं मनुष्य बैठे हैं, कहीं तिर्यक्त्व बैठे हैं, कहीं देव बैठे हैं, कहीं स्त्री बैठी हैं, कहीं मुनि बैठे हैं, सबको उन सर्वज्ञदेवके दर्शन होते हैं।

चतुर्मुखदर्शनमें रहस्य— भैया! उस मंडपमें एक आफतसी आ सकती है। क्या? लोग तो यही चाहेंगे कि जहाँ ज्ञानानका मुँह हो वहाँ ही सामने बैठें। पीठ पीछे कोई बैठे तो उसे तो दूँख ही न होंगे। तो फिर एक भगद्वासा मच जायेगा। पर भगवान् का देखा अतिशय होता है कि उनका मुख चारों ओर दिखाई पड़ता है। स्फटिक भणिकी तरह परमो-द्वारिक उनका शरीर होता है। जो जसे स्फटिकमणिमें आगे आएं पोछे होनां और प्रतिविम्ब दाखता है यां ही उन सर्वज्ञ ब्रह्मके ऐसा अतिशय है कि चारों ओर बैठे हुए लोगोंको उनका मुख दीखता है। लोकमें प्रसिद्ध हैं

कि भगवान् सबज्जदेव चतुर्मुख होते हैं, तो उनके चार मुख नहीं होते हैं किन्तु अतिशय ऐसा है कि चारों ओर उनको मुख दीखता है।

प्रभुके उपसर्गका व कवलाहारका आवाव— प्रभु पर कोई उपसर्ग नहीं कर सकता। उनमें प्रभुता ही ऐसी है कि उन्हें कोई छू भी नहीं सकता है। उन्हें किसीसे सेवा करवानेकी क्या जरूरत है? उनके अनन्त बल प्रकट होता है! वे प्रभु उपसर्गसे रहित हैं। अब भगवान् मुखसे भोजन नहीं किया करते हैं। भजा कल्पना तो करो कि जिसकी आत्मा निर्दोष है, सारे विश्वका ज्ञाना हृष्टा है, ज्ञानपूज्य है, ऐसे महापुरुष, ऐसे प्रभु अब भोजन क्यों करेंगे? उनके वेदना हो तो भोजन करें, बल कम हो तो भोजन करें, प्रभुके अनन्त बल है, प्रभुके कोई वेदना नहीं है, फिर उनके किसी प्रकारका आहार क्यों हो? थोड़ी यह शंका कर सकते हो कि जब आहार न किया जायेगा तो शरीर टिका कैसे रहेगा? अरे शरीर आहार करनेसे ही नहीं टिका रहता है। शरीर टिके रहनेके अनेक अन्य कारण हैं।

कवलाहार विना किसी संसारो प्राणीके भी देहका टिकाव सम्भव-
किसीका शरीर तो विना मुखसे आहार लिए टिका रहता है। एकेन्द्रिय जीव जो वृक्ष हैं इनके मुख कहां हैं पर इनका जो शरीर है उसमें शरीर की वर्णणाएँ आती रहती हैं और वे पेड़ पानी व मिट्टीका लेयरप्लपसे अहण करते हैं, इनके आहारकी ऐसी ही पद्धति है।। पक्षियोंके जो अड़े हैं उनको कौन आहार देता है? कितने ही दिनों तक अड़ेमें पक्षी रहा करता है। उस अड़े पर पक्षी बैठ जाता है और अपने शरीरकी गर्भी उस अड़ेको देता रहता है, वह गर्भ अड़ेके भीतर रहने वाले पक्षीको मिलती रहती है। ऐसे ही देवोंके जब कभी हजारों वर्षमें भूख लगती है तो उनके गलेसे अमृत भर जाता है।

देवतावोंके कवलाहारकी मान्यतामें स्वार्थका प्रवेश— भैया! लोक में स्वार्थवश ऐसी प्रसिद्धि हो गयी है कि कालों मां अथवा अमुक देव ये बलि लेते हैं, ये मांसका भोजन करते हैं, ऐसा लोगोंने स्वार्थवश प्रसिद्ध किया है। खुदको खाना है इमलिए ऐसा करते हैं। खुद तो धर्मात्मा बने रह जायें लोगोंकी दृष्टिमें और मांसका भक्षण भी कर लें। इसके लिये ये सब उनके उपाय हैं। देवतावोंके नाम पर देवी देवतावोंमें पशुबलि चढ़ाते हैं। चढ़ाते हैं अपने ही खानेके लिए। किसी भी देवताका यह स्वरूप नहीं है कि वह मुखसे कुछ खाये पिये। मांसकी तो बात जाने दो। तो उन देवोंका शरीर टिका कैसे रहता है? उनकी पद्धति कुछ और ही

प्रकारकी है।

प्रभुके देहके नोकर्माहार— अब यहां तेखिये प्रभुका शरीर कैसे टिका रहता है? तो यह बताया है कि उनके किसी भी प्रकारका आहार नहीं है किन्तु सीधे ही शरीरकी वर्गणाएँ शरीरमें प्रवेश करती हैं और उन का शरीर टिका रहता है। जैसे कोई मुखसे भोजन नहीं भी करे तो भी इन्जेक्शनके बल पर कई दिन तक रहा करता है। जब कई दिन तक कोई वेदना रहनी है तो गुलूकोजका इन्जेक्शन लगाते हैं और उसका शरीर भोजन किया जैसा कई दिन तक बना रहता है। फिर प्रभुका तो एक शुद्ध शरीर है उसमें शुद्ध वर्गणाओंका प्रवेश है, उनको भोजनकी क्या जरूरत है और वैसे भी सौंचों कि जो खाये पिये वह प्रभु ही कैसे हो सकता है? प्रभु जब गृहस्थावस्थामें थे तब आहार करते थे, किन्तु अब प्रभु होनेपर वे कवलाहारसे रहित हैं।

समस्त विद्यार्थोंका ऐश्वर्य तथा देहके नखकेशकी वृद्धिका अभाव— वे समस्त विद्यार्थोंके स्वामी हैं। केवलज्ञान होनेसे पहिले सर्वविद्यार्थोंका अधिपति नहीं कहा जा सकता है। कुछ पुरुष ऐसे हैं छद्मस्थ अवस्थामें कि वे सर्वविद्यार्थोंके स्वामी बन जायें, किसीको किसी विषयका ज्ञान है किसीको किसी विषयका ज्ञान है। सर्वविद्यार्थोंका ज्ञान किसीको अल्पज्ञता में नहीं हो सकता है। जब केवलज्ञान हुआ तो समझो कि सर्वविद्यार्थोंका ऐश्वर्य प्राप्त हो गया। प्रभु होनेके बाद उनके नख और केश नहीं बढ़ते हैं। केवलज्ञानी पुरुषकी बात कही जा रही है। अगर उनको बाल बनवानेके लिए और नाखून कटवानेके लिए नाईकी जरूरत पड़े तो क्या इसमें राग की प्रवृत्ति नहीं जचती है? अथवा हाथसे कच्चलुंच करे तो क्या कुछ रागवृत्ति नहीं जंगती है। इनके नख और केश प्रकृत्या नहीं बढ़ते हैं। ऐसा अद्भुत अतिशय उनके हो जाता है। जिनका मन शुद्ध है, जिनका परिणाम निर्मल है ऐसे पुरुषोंका, जैसे यहां दीख जाता है कि शरीर स्वस्थ रहता है अथवा जिसने पूर्वकालमें धर्म किया ऐसे हुएका शरीर स्वस्थ रहता देखा गया है ना। फिर तो ये प्रभु परमस्वस्थ हैं, इनके परमौदारिक हैं।

निर्मल आशयका प्रताप— लक्ष्मणको जो किबाही गयी थी विशल्या, वह विशल्याके भावसे पहिले तो थी देवगनि जीव और उससे पहिले थी चक्रवर्जीकी पुत्री बड़ी मुन्दर रूपवती। उसे लोग हर हर ले जायें, पर वह कभी अपने शीलसे डिगी नहीं। एक बार एक कोई विद्याधर उस लड़की को उठाकर ले गया। पीछेसे लोगोंने हमला किया, पीछा किया, तो उस

लड़कीको एक घनघोर जंगलमें छोड़कर वह चला गया। अब उस जंगलमें किसीको पता ही न पड़ा। वह वहाँ रहने लगी। वहाँ कोई पुरुष नहीं, कोई बच्चा नहीं, चारों ओर गहन बन था। जो कपड़े पहिने थी वे कितने दिन चलें। हजारों वर्ष बिता दिए जंगलमें रहते हुए। अब समझ लो कपड़े भी न हों या कैसी भी स्थिति हो किन्तु वहाँ भी वह धैर्य रखे रही, तपस्या करती रही और एक शुद्ध ब्रह्म स्वरूपकी भावनामें अपना समय बिताया। उस लड़कीको अजगरने लील लिया। उसी समय चक्री उस लड़कीका पिंगा हृदंता हुआ पहुंच गया। तो पिताने देखा कि लड़कीको अजगर लीले हुए है। उस अजगरको मारनेके लिए चक्रवर्तीने हथियार उठाया तो वह लड़की हाथ जोड़कर प्रार्थना करती है कि अब इसकी जान मत लो। उस लड़कीने उस अजगरके प्राण बचाये और समाधिभाव पूर्वक मरण किया। वहाँसे चलकर विशल्या हुई। जिस विशल्यामें इतना पुण्य प्रताप था कि उसके नहाये हुए पानीका छीटा पड़ जाय तो रोगीका सारा रोग दूर हो जाये।

निर्मल आत्माका अतिशय—आपको याद होगा पश्चपुराणमें पढ़ा होगा कि जब रावणने लक्ष्मणको शक्ति मारी थी युद्धकालमें तब लक्ष्मण वेहोश हो गये थे। तो लोग कहते हैं कि रामने एक बूंटी मंगायी थी और हनुमान इसको लेने गये ते। वह बूंटी कहाँ थी, क्या थी ऐसा न जाननेके कारण वे पहाड़को उठाकर ले आये थे और वहाँ लक्ष्मणकी मूर्छा दूर की गयी थी, ऐसा लोग कहते हैं। पश्चपुराणमें यह बताया है कि विशल्याका बड़ा पुण्य प्रताप था। सो लोगोंने कहा कि यदि विशल्या यहाँ आ जाये तो उसके देखते ही लक्ष्मणकी मूर्छा भाग जायगो। तब उस विशल्याको लाने का काम हनुमान जी को दिया गया। हनुमानकी कामदेवमें गिनती की जाती है। उनका बहुत सुन्दर शरीर था। हनुमानजीका नाम श्रीशैल था। उन्हें हनुरुह द्वीपका राज्य मिला था, सो हनुद्वीपके अधिपति होनेके कारण वे हनुमान कहलाये। इनका नाम वजरंगबली भी है, जिसका शुद्ध शब्द है बज्रांगबली। जिसका बज्रानाराचसंहननके धारी बलिष्ठ पुरुष, यह अर्थ होता है। हनुमानजी विशल्या व उसके परिवार सहित गगनविनानसे आये। विशल्याको देखते ही लक्ष्मणकी मूर्छा किलकारी मारकर दूर भाग गयी। तो आप देखो—यह तपस्याका ही प्रभाव है कि उसने अपना पूर्व-जन्म अर्हद्भक्तिमें व्यतीत किया, उसका यह सारा प्रताप था। तो जहाँ कुछ निर्मलता होती है वहाँ ऐसा प्रताप उत्पन्न हो ही जाती है। तो जिस की आत्मा पूर्ण निर्दोष है उसके ऐसी प्रतिभा प्रकट हो तो क्या आश्चर्य

है ? ऐसे प्रभुकी भक्ति होना सो अर्हद्भक्ति है ।

स्वविदित भाषाका अतिशय— प्रभु जब विहार करते हैं और उप-देश करते हैं उस समय उनके दिव्य अतिशय प्रकट होता है । उनके वे निरक्षरी दिव्य वचन अनेक भाषाओंरूप परिणम कर श्रोताओंके मनको प्रसन्न करते हैं । वहां एक तो यह सम्भव है कि वे श्रोतागण उस दिव्य-ध्वनिको सुनकर अपने आप ही स्वयं अपनी भाषामें उसका अर्थ समझ लेते हों और फिर जब आजकल भी किसीके व्याख्यानको अनेक भाषाओंमें परिणत करनेमें समर्थ जब मन्त्रोंकी रचना चलने लगी है तो भला ऋद्धिसमृद्धिसम्पन्न वह इन्द्र इस बातको आज जैसोंसे भी बढ़कर इस प्रयोगको करनेमें समर्थ न हो सके होंगे ।

परस्पर मित्रताका वातावरण— प्रभुके विहारमें और उनके आवास के अवसरमें जो भी प्राणी आते हैं वे सब आपसमें मित्रताका बरताव करने लगते हैं । यह प्रभुका दिव्य अतिशय है । ऐसे बड़े संनपुरुषोंके निकट पहुंचनेपर प्रकृत्या लोगोंके कषाय बंधन ढाले हो जाते हैं, बैरभाव नहीं रहता है । नैवला और सांप परस्पर मिल जुलकर बैठते हैं । बिली और चूहा परस्पर एक दूसरेके साथ बैठे रहते हैं । पुरुष पुरुषसे तो बैर ही क्या रखतेंगे जहां कि यह दिव्यअतिकाय है कि ये पशु पक्षीगण अपने बैरभाव को समाप्त करके मित्रतापूर्वक बसते हैं । धन्य है वह हृदय, जिस हृदयमें अरहंतदेवके प्रति भक्ति उमड़ती है । धन्य है उनकी जिह्वा, जिससे पुरुष प्रभुकी पूजामें, ध्यानमें, गुणगानमें रत रहा करते हैं । निर्दोष आत्माके गुणोंका स्मरण करनेसे अधिक और क्या बैभव हो सकता है ? मोह एक विकट अन्धकार है जिस अन्धकारमें भूला हुआ न अपने आपको पहिचान सकता है और न सही रूपमें दूसरेके आत्मस्वरूपको पहिचान सकता है । तीर्थकर, अरहंत, सकलपरमात्मा, सगुणब्रह्म, निर्दोष, बीनराग, सर्वज्ञ-देव, अकारण उपकारी, परमब्रह्म, निरपेक्ष मित्र जहां विराजे हुए हैं, जहां विहार करते हैं, जहां आवास करते हैं वहां जीवोंमें परस्पर मित्रताका बरताव होता है ।

दिशावोंकी निर्मलता, आकाशकी स्वच्छता, षटऋतु पुष्पफल व भूमिकी निर्मलताका अतिशय— उस समय दिशायें निर्मल हो जाया करती हैं, आकाश स्वच्छ दीखता है, छहाँ ऋतुओंके फलफूल एक साथ फलने लगते हैं । ओह प्रभुके आवासका इतना विशेष अतिशय है कि मनुष्य तो समस्त रोगोंसे राहित हो जाते हैं कि इनमें नवीन लाल कोपल अथवा सभी फल फूल फलने फूलने लगते हैं । तब यह पृथ्वी दर्पचतुर्निर्मल हो जाती है ।

भला किसी बड़े पुरुषके प्रवन्धमें मनुष्य लोग भी बड़े कमाल करके दिखा देते हैं और जहां तीर्थकर प्रभुका तो ही रहा हो विहार और प्रवन्ध करने वाली हों दिव्य शक्ति, वहांके अतिशयका कौन वर्णन कर सकता है। यह सब चमत्कार है प्रभुकी निर्दोषताका। निर्दोषस्वरूप पर बलिबलि जाओ। यहां कोई नाम लेकर बात नहीं कही जा रही है। भगवानका कोई नाम नहीं होता है, भगवान्को वैभव, शरीर सकलकी बात नहीं होती है किन्तु जो निर्दोष है, गुणपुञ्ज है वह प्रभु अरहंत अथवा सर्वज्ञदेव प्रभु है।

प्रभुचरण कमलतल स्वर्णकमलकी रचना— प्रभु जब विहार करते हैं तो उनके चरणोंके नीचे स्वर्ण कमलकी रचना हो जाती है। वे पृथ्वी पर विहार नहीं करते हैं, आकाशमें ही विहार करते हैं। यहां भी कोई औषधितन्त्रके विज्ञानसे आकाशमें चलकर दिखा सकते हैं और ऋद्धिधारी प्रश्नितो आकाशमें विहार करते ही हैं। फिर जो समस्त ऋद्धियोंके पुञ्ज हैं, उत्कृष्ट अतिशयके स्थान हैं जिनसे बड़कर अन्य कुछ क्या कहा जा सकता है? वे विहार कर रहे हों और उनके पर्गोंके तले इन्द्र स्वर्णकमल की रचना करते जाते हों तो इसमें कौनसा आशर्च्य है? यहां भी तो कोई बड़ा पुरुष चलता है तो उसके आगे कपड़ा बिछा देते हैं, रेशम मखमलकी पाट बिछा देते हैं फलांगों और भीलों तक। फिर बनावो तीर्थकर जैसे सर्वरक्षक परमपिता परमशरण जो उनकी देशनों न होती तो आज यह वस्तुका स्वरूप हम आप कहांसे प्राप्त करते? उनका तो हो रहा हो विहार और वहां दासपना कर रहा हो इन्द्र तो उस व्यवस्थाको कौन कह सकता है?

जय-जय ध्वनि व मन्दसुगंध पवन— आकाशमें चारों ओरसे उनके जय-जय शब्दोंकी ध्वनि चलती है। औह कोई लोग नहीं दीखते हैं और जय-जयके शब्द सुनाई दे रहे हैं। ऐसा भी होता है, लोग भी बहुत दीख रहे हैं, जय-जय ध्वनि सुनाई देती है ऐसा भी होता है। वहां मंद सुगंधित पवन चलता है। एक ही इन्द्र या देव उस व्यवस्थमें नहीं है किन्तु प्रत्येक देवकी यह उत्सुकता रहती है कि मैं प्रभुकी सेवामें कुछ भी तो काम आऊँ। यह जीवन किस दिनके लिए है, ये ऋद्धि वैभव किस क्षणके लिए है? जिन देवोंका जीवन बेकारसा रहता है, विषयोंमें जिनकी वासना बनी रहती है, वे अवसरको पाकर अपना सारा बल प्रभुसेवामें लगाकर अपनेको कृतार्थ समझा करते हैं। औह इस पापवासमामें तो कभी शांति नहीं प्राप्त होती है, ये सब बेकार हैं। वे देव अपना सारा वैभव प्रभुकी सेवामें अपित कर देते हैं।

गन्धोदक वृष्टि व भूमिकी निष्करणकता— वहां सुगंधित मंद-मंद जलकी वृष्टि भी होती रहती है। जैसे सभा सोसाइटियोंमें लोग गुलाबका जल किड़कते हैं तो सुहावना लगता है। लोग उसमें अपना आदर समझते हैं। ऐसे ही सुगंधित जलको वृष्टि वहां बहुत विस्तृत क्षेत्रमें होती रहती है। विहार करते हैं सो वे आकाशमें चलते हैं पर भूमिगोचरी पुरुष पशुजन और जो भी बच्चे लोग चलें, जो उनके दर्शन करनेके लिए अभिलाषी हैं वे पृथ्वीपर ही तो चलते हैं। किस ओर मुड़ जायें वे प्रभु? आकाशमें क्या रास्ता बनी है? जहां प्रभु जायें उस ओर ही तो मनुष्य जायेंगे। क्या पांहलोकी बनी हुई सङ्ककाही सहारा लेकर वे अपना मनोरथ सफल कर सकेंगे? जहां जायेंगे वहां ही लोग भागेंगे। जहां पक्की सङ्कक नहीं वहां होकर जाना पड़े तो क्या कांटे न लगेंगे? अहो ऐसा दिव्य अतिशय है, ऐसा देखोंका पुरुषार्थ है कि भूमिमें कंटक नहीं रहते हैं।

विश्वका हर्ष, धर्मचक्रका पुरोगमन व मंगलद्रव्योंका नैकट्य— उस समय सब जीवोंमें हर्षमयी सृष्टि हो जाती है। ओह कुछ भी पवित्र थोड़ा भी निर्दोष, थोड़ा भी यथार्थ ज्ञानी पुरुष अपने बीच कहीं मिल जाय तो वहां भी हर्षका ठिकाना नहीं रहता। फिर कहीं प्रभु ही मिल जायें तो उस हर्षको कौन बता सकता है? जैसे यहां रथकी सवारी जब निकलती है तो कितने गान तान समारोह किये जाते हैं। लगातार पताके एँ आधवा नाना बाजे और-और भी आकर्षक झांकियां और सबसे आगे धर्मचक्र यहां रखते हैं। यों ही इससे भी कई गुणा बढ़चढ़कर समारोह प्रभुके तीर्थकरके विहारमें होता है। वहां ऐसा दिव्य धर्मचक्र चलता है कि वह मानों सर्वत्र धर्मका वातावरण केकता हुआ जा रहा है। उनके निकट छत्र, चामरादिक अष्ट मंगलद्रव्य राजते हैं। ऐसे अनेक दिव्य अतिशयोंकरि सम्पन्न प्रभु किस बल पर इतने बड़े बने हैं? वह बल है यथार्थ ज्ञान और निज सहज ज्ञानस्वरूपमें ही रमण। इसके प्रसादसे उनमें पूर्ण शुद्धता प्रकट हुई और विश्वज्ञता स्पष्ट हो गयी है। ऐसे अरहंतदेव सकल परमात्मा हैं। क्या करें, नाम तो कुछ लेना पड़ता है। नाम कुछ भी न लेना पड़े और वह गुण-पुञ्ज स्वरूपदृष्टिमें आये और भक्ति जगे यह तो सर्वोत्तम बात है किन्तु नाम तो कुछ धरा ही जायेगा। लोकका व्यवहार नाम बिना तो नहीं चलता। वह तो सर्वमजहबोंसे परे है, सर्वजातियोंसे परे है, संसारके सब भंकटोंसे परे है, शुद्ध निर्दोष ज्ञानपुञ्ज है। ऐसे अरहंतदेवकी अर्थात् निर्दोष आत्माकी भक्ति होना, सो अर्ह द्रभक्ति है।

निष्कपट अर्हद्भक्तिका प्रभाव— अर्हद्भक्तिके प्रतापसे जो शुद्ध परिणाम जगता है उस समय उस भक्त महापुरुषके ऐसी तीर्थकर प्रकृतिको बंध होता है जो तीर्थकर देवके समान ही वैभव और समृद्धिका अधिकारी हो जाता है। प्रभुकी भक्ति किसी वाच्छासे मत करो। वाच्छासे प्रभु भक्ति करने पर कुछ लाभ न मिलेगा। निष्कपट निरीह होकर अरहंतदेव की भक्ति करो, उनके ही उसे गुणविकासमें वेवल ज्ञानध्योति के उस शुद्ध सच्चिदानन्द प्रकाशमें अपने उपयोगको बसाओ। यहां तक अर्हद्भक्ति नामकी भावना कही गयी है।

११—आचार्य भक्ति

आचार्यभक्तिभावना— अब ११वीं भावना है आचार्यभक्ति। सिद्ध प्रभुकी भक्ति करना वह तो उत्तम है ही, मगर वे मिलते कहां हैं, स्मरणकी ही बात है। उनसे हम व्यवहार कहां कर सकते हैं? अरहंतदेव भी कदाचित् मिल सकते हैं मनुष्योंको किन्तु वहां पहुंच तो नहीं है। उनसे कुछ बात चोत तो नहीं हा पाती। रोजकी बात, रोजके काम ये तो उनके प्रसंगमें नहीं हो सकते हैं। तब फिर अरहंतदेवके ही लघुनन्दन छोटे भाई आचार्यदेव जो मुनीश्वरोंके अधिपति हैं, सर्वकै हितकी इच्छा रखते हैं, अपने स्वरूपकी सावधानी रखता करते हैं ऐसे आचार्यदेवकी भक्ति करना सुगम व सुफल है। ऐसे आचार्योंकी भक्ति होना सो आचार्यभक्ति है।

परोक्षभूत आचार्योंका भी अवलोकन— भैया! न मिलें कदाचित् ऐसे आचार्य आजकल तो उन आचार्यदेवकी जो अंतरंगकी स्पष्ट फोटो है वह है यही बचन। शरीरवी फोटो तो कैमरा से ली जाती है पर मनुष्यों की, महापुरुषोंकी भीतरकी फोटो आप किस कैमरे से लेंगे? उनका भीतरी विकास कैसा है, उनका ज्ञान और वैराग्य कैसा है, वह फोटो जैसे ही ग्रन्थ तो हैं। इन बचनोंकी उपासना द्वाग परोक्षरूपमें ही उन आचार्योंकी ऐसी भक्ति करलो गद्गद होकर, सर्व आरम्भ परिग्रन्थ पाप विग्रह कषायोंको भूलकर, आनन्दक अश्रु बह कर और अपनी वर्तमान पर्यायपर शोकके अश्रवहाकर ऐसे गंगा युना जैसा संगमरूप अश्रु धारावोंसे उन आचार्य देवके चरणोंको परोक्षरूपमें पखार लें। वर्तमानमें नहीं हैं तो न सही, सोच लो ये हैं आचार्यदेव। कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्राचार्य, विद्यावन्दी आदि अनेक आचार्य हुए हैं, जिनकी हम क्या-क्या कहानी बताए? जिन का आदर्श चरित्र था।

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य— कुन्दकुन्दाचार्य प्रभु १०, १२ वर्षकी उम्रमें निर्ग्रन्थ हो गये थे। इनकी माँ जब कुन्दकुन्द बच्चे को पालनामें भुला

रही थी उस समय जैसे कि प्रायः होता है मां गीत गाती हुई बच्चे को झुलाया करती हैं। जिसे कहते हैं लोरियां लेना। वैसे ही कुन्दकुन्दाचार्य की मां पालना झुलाते हुए में लोरियां गाती थी, जिसे कविने संस्कृत छंदों में बांधा है। “शुद्धोऽसि शुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि, संसारमायापरिवर्जितोऽसि। संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां, श्री कुन्दकुन्दं जननीदमूचे।” हे कुन्दकुन्द ! तू शुद्ध है, शुद्ध है, निरञ्जन है। संसार की माया से परे है, संसार के स्वप्नों को, मोहकी निद्राको त्यागो। इस प्रकार जिसके प्रति मां पालना झुलाते हुए में बोल रही हो समझो उसकी संतान कैसी होगी ? वे कुन्दकुन्द प्रभु थोड़े ही समय बाद उस समय के दुनियाके सर्वसाधुवों के प्रमुख नायक हो गये। उनके जब अद्यात्मश्रन्थों को पढ़ते हैं तब पहचान होती है उन आचार्यद्वारों की। उनकी बाह्य परिचान से भक्ति नहीं उमड़ती है, किन्तु भीतर का परिचय हो तब भक्ति उमड़ती है।

ब्रह्मवेत्तुत्व— एक जरासी कहानी और सुनिये विद्यानन्दी आचार्य की। प्रायः जितने भी आचार्य हुए हैं वे ब्राह्मण थे। मोक्ष तो सभी को होता है ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य किन्तु प्रधानता तो देखो। जो ब्रह्म को जाने वही ब्राह्मण है। जिस समय भरतचक्रवर्ती ने प्रजाजनों को आमंत्रित कर अपने घर बुलाया था और आंगन में धान बुवा दिये थे,। अंकुर खड़े थे। तो जहुतसे लोग तो सीधा चक्कर लगाकर न जाना पड़े सो उन अंकुरों से कूदते हुए आये, किन्तु कुछ जन जो चिंचेकी थे वे अंकुरों को छोड़कर साफ गली से धूमकर आये, तब चक्रीने उनको ब्राह्मण संज्ञा दी। कहा कि तुम जानते हो ब्रह्मस्वरूप को। जीवरक्षाका तुम्हारा भाव है। फिर वह परम्परा धीरे-धीरे कैसी होती रही कि सभी पुरुषों की भाँति रागद्वेष आजीविका, खेती बाड़ी और वही कुटुम्बपालन की चित्तासे व्याप्त हो गए। ये आचार्य द्वेष प्रायः सब ब्राह्मण थे और तीर्थकरों को तो सुना ही होगा कि वे सब क्षत्रिय वंशके थे।

विद्यानन्दी आचार्य की प्रतिभा— विद्यानन्दी महापंडित विप्र, राजा के प्रमुख पुरोहित थे। उस समय विद्यानन्दी पंडितराज जैनधर्म से इतना द्वेष रखते थे कि कहाँ जैनमंदिर आ जाय तो मुझ छोड़कर चलते थे। वे एक राजदरबार के पुरोहित थे। जब वे राजदरबार से चर जाते थे तो रास्ते में एक पार्श्वनाथ जैन मंदिर पड़ता था, वह मुझ छोड़कर चल देते थे। अंचानक ही एक दिन चित्तमें ऐसा आया कि मैं चित्त मंदिर से मुख मोड़ कर चलता हूं आखिर ऐसी धृणाकी चीज है क्या, यहाँ देखें तो सही। दूसरे दिन वह मंदिर में गए। उस समय मंदिर में एक मुनि विराजमान थे

और वह देवागमस्तोत्रका पाठ कर रहे थे। आचार्यकी कृतियों पर वही न्यौद्धावर दो सकता है जो उनके गुणोंसे परिचित है। वह मुनि देवागम-स्तोत्रका पाठ पढ़ रहा था। क्या है देवागमस्तोत्रमें? किसीके सैकड़ों जिहाएँ हों तो भी उसका रहस्य कह नहीं सकता। कुछ थोड़ी बातें किसी समय कहेंगे। संस्कृतमें था वह स्तोत्र जिसमें भगवान्की स्तुतिकी जा रही थी, पर स्तुति करते हुएमें समस्त वस्तुसिद्धान्त वर्णित कर दिया गया था। विद्यानन्दी संस्कृतके बड़े ज्ञाता थे, उन्होंने बड़े ध्यानसे उस स्तोत्रको सुना। सुनते ही उनका बहुतसा अम खत्म हो गया।

विद्यानन्दीस्वामीको तत्त्वका सम्यक् दर्शन— फिर विद्यानन्दी विप्र बोले, महाराज इस स्तोत्रका अर्थ तो बताओ। तो वह मुनि बोला कि हम इसका अर्थ नहीं जानते हैं, हम तो श्रद्धासे भक्तिपूर्वक इस स्तोत्रका पाठ किया करते हैं। इतनी नव्राताकी बात सुनते ही विद्यानन्दी तो भक्तिसे अतोत्प्रोत हो गए। कहा महाराज इस देवागम स्तोत्रको एक बार फिरसे सुना दीजिए। उन्होंने फिरसे सुना दिया। सर्व अर्थ हृदयमें आ गया। सारी शंकाएँ समाप्त हो गयीं। जैनदर्शनकी युक्तियोंसे इस सिद्धान्तपर उनका हृद विश्वास हो गया। अब तो जीवन ही बदल गया। घर आये। अब तो उनका कुछ और ही ढंग था। अब जब रात्रि हो गयी तो उन्हें निद्रा ही न आये, गुणानुरागसे और अपनी पिछली करतूतके प्रायशिच्चत्त-स्वरूप अनुतापसे वे भक्तिमें भग्न हो रहे थे। औह सर्व कुछ वस्तुस्वरूप उनकी उपयोगर्द्धार्थमें सामने था। केवल एक साधारणसी बातकी थोड़ी शंका रह गयी थी उसका वे चिंतन करने लगे।

आचार्यदेवका आचार, व्यवहार, आयापायदर्शित्व व अवपीडन गुण— आचार्य परमेष्ठी भव्य जीवोंके किनने परम हितचितक है इस बातको आचार्यके जो द महागुण हैं उनके स्वरूपसे जान सकते हैं। आचार्य परमेष्ठी आचारवान् होते हैं अर्थात् वे पंच आचारोंका स्वयं भी हृदतासे पालन करते हैं और शिष्य जनोंको पालन कराते हैं। वे ज्ञानके पुज्ज होते हैं। उपाध्याय परमेष्ठी भी जिनका प्रसाद चाहें उन आचार्य परमेष्ठीका सुलभा हुआ ज्ञान वचनोंके अगोचर है। उनकी ऐसी प्रतिभा होती है कि वे किसी जनको देखकर सगुनको निरखकर अथवा किसी निमित्तको देखकर यह जान जाते हैं कि इस क्षेत्रमें शिष्यजनोंको लाभ है अथवा उनका विनाश है, ऐसे आय और अपायके दशी होते हैं। कोई शिष्य आचार्यसे आलोचना करते हुए अपने दोष निवेदन करता हो और कोई ऐसे शिष्य छिपा जाय तो आचार्य परमेष्ठीका इतना प्रताप होता है कि वे

शिष्य दोषोंको छिपा नहीं सकते और खुद ही अपने मुँहसे अपने ऐब बखान जाते हैं। यह प्रेमकी बात है शासनकी बात नहीं है। आचार्य परमेष्ठीमें उन साधुओंके प्रति इतना अद्भुत मोक्षमार्गका प्रेम है कि वे साधुजन दोषोंको छिपा नहीं सकते और वे आचार्य ऐबोंको निकाल डालते हैं। ऐसा उनमें अवपीडन गुण है। जैसे कोई बच्चा किसी वस्तुको मुखमें डालते हो और वह गलेमें अड़ जाय तो माता उसके मुखसे गलेमें हाथ डाल कर उस वस्तुको निकाल लेती है। यह माताका अद्भुत प्रेम है। यों ही शिष्योंकी आत्मामें कोई ऐब लुपानेकी हृषि जगी हो तो आचार्यदेव उसे दोषको ठहरने नहीं देते। समझ लीजिए कि कितने परम प्रेम और परम-करुणाका भाव है ?

आचार्यदेवका अपरिस्थिति गुण— आचार्यका आत्मा बहुत गम्भीर है। आचार्यदेवसे शिष्यजन अपनी-अपनी न जानें क्या क्या बात कह जाते हैं ? यह मनुष्य दोषोंसे घिरा बना हुआ है। कैसे दोष हो जाते हैं जिनको मुखसे कहनेमें लाज आये, ऐसे भी दोष साधुजन अपने कल्याण की भावनासे आचार्यदेव से आवेदित करते हैं और आचार्य परमेष्ठी उन दोषोंको हृदयमें यों पी जाते हैं अथवा मुख। डालते हैं कि किसी भी तीसरे मनुष्यको पता नहीं हो सकता कि इस शिष्यने क्या अपराध किया ? यह महागुण है। जैसे ताते तवेपर पानीकी बूँद गिरा दी जाय तो वह बूँद क्या कुछ दिखती भी है ? उसका कुछ पता भी रहता है ? यों ही आचार्य के उपयोगमें शिष्योंके अपराध यों गुण रहते हैं कि वे किसी भी मनुष्यका शिष्यका अपराध नहीं बतानते हैं। देखा होगा बच्चोंकी थोड़ी-थोड़ी लड़ाईमें बच्चे कह बैठते हैं कि देखो हम तुम्हारी बात कह देंगे। बात कुछ न हो पर उनकी ऐसी आदत है। मनुष्य भी संसारी लोग जरासी लड़ाई में इनने असहनशील हो जाते हैं कि दूसरेके रहस्यको, दूसरेकी गुप्त मंत्रणाको प्रकट कर डालते हैं, पर आचार्य परमेष्ठीका हृदय इतना उदार होता है कि कोई शिष्य चाहे शिष्य न भी रहे, चाहे वह विधर्मी हो जाय, चाहे उसकी कुछ भी परिस्थिति बने निस पर भी शिष्यके द्वारा की गई आलोचनाको आचार्य जाहिर नहीं करते हैं। उनका एक ही निर्णय है।

निर्णयन— ये आचार्यदेव अपने शिष्योंका निर्णयन करते हैं। जैसे उनका संसारसे तिरना हो उस उपायको किया करते हैं। आचार्य परमेष्ठीकी वैयाकृत्य करनेका गुण ऐसा प्रबल होता है कि कोई भी शिष्य रोगी हो, दुखी हो, म्लान हो, कमज़ोर हो तो उसकी सेवामें हिचकते नहीं हैं। ऐसा छोटे पुरुष ही सोचते हैं कि मैं बड़ा हूँ, मैं इसे कैसे लुञ्ज़ ?

एक घटना बतायी थी एक श्रावकने। बहुत पहिले समयकी बात है, सम्भवतः भिरडकी बात है। जब स्वरूपसागरजी एक क्षुललक थे, वे बीमार हुए तो उनके साथ दो ब्रह्मचारी रहते थे। उन क्षुलकजीकों के हुई, तो वे दोनों ब्रह्मचारी दूर खड़े-खड़े देख रहे थे। किसीकी यह हिम्मत न हुई कि निकट जायें और उनकी पीठ पर अपना हाथ फेरें, उनके सिरको थाम लें। तो एक श्रावक पहुंचा और उसने कहा— ब्रह्मचारी जी तुम तो इनके साथ रहते हो। इनको कितनी बेदना हुई पर तुमने इनके सिरपर अपना हाथ भी नहीं फेरा ? तो उन्होंने उत्तर दिया कि अब शामके सामायिकका समय होने वाला है, यदि हम छू लेंगे तो किर नहाना पड़ेगा। श्रावकने के धोई, उनकी सेवा शुश्रृष्टा की, सब कुछ किया। अब आप जान जाइए कि धर्मका पालन किसने किया ?

आचार्य परमेष्ठीकी विशालता— धर्मात्मापुरुषोंकी सेवाके सामने और धर्मात्मापुरुषोंकी वैयावृत्यके सामने आपके पूजन, सामायिक, ध्यान ये सब कुछ उसीमें गर्भित हो जाते हैं। सेवामें महागुण हैं। यह गुण इन आचार्य परमेष्ठीमें होता है। ऐसे उपकारी आचार्य परमेष्ठीका कहां तक गुणगान करें ? बहुत दिनोंसे यह पोडशकारण भावना चल रही है। इस भावनाके बारेमें आप ऐसा सोच रहे होंगे कि दिन अधिक हो गये हैं। अब अधिक विस्तार करना युक्त नहीं है। इनना ही जानो कि हम आपके शरण रक्षक परमपिता जिसे माँ बाप कहते हैं, कोई पुरुष अपना रक्षक कहते हैं, ये आचार्य परमेष्ठी हैं। इन साधुजनोंके मोक्षमार्गके पथिकोंके पथ-प्रदर्शक साक्षात् ये आचार्य परमेष्ठी हैं। इनकी विशालताका, इनकी गम्भीरताका कौन बतान कर सकता है ? यह आचार्य परमेष्ठीका वर्णन है। अपनी नामबरीके लिए योग्यता न होकर भी दो, चार, दस श्रावकोंको कहनेके लिए तैयार कराकर अपनेको आचार्य कहलवाना, अपनेको आचार्य प्रसिद्ध कर देना उसका यह प्रकरण नहीं है किन्तु जिनमें ऐसे महागुण हैं कि जिनके कारण लोगोंका वास्तविक परमोपकार होता है, उन आचार्य परमेष्ठीका यह प्रकरण है। उनकी महिमाका हम कहां तक वर्णन करें ?

विद्यानन्दी स्वामीका एक चिन्तन— वे विद्यानन्दी स्वामी जब जैन सिद्धान्तके तीव्र रुचिया बनकर खुशीके मारे उनको नींद नहीं आ रही थी। हर्षमें नींद न आना भी बड़ा शुभ अवसर है। तो उनके थोड़ी निद्रा आर्थि, वह भी एक शुभचित्ताके गुजरे क्षणोंमें आयी। वे चिंतन कर रहे थे कि और तो सब जाना, पर न्यायदर्शनमें अनुमानरूपका बड़ा वर्णन है, उस

समय थोड़ा यह सोच रहे थे कि अनुमानके अंग कितने हैं अर्थात् कितनी युक्तियोंसे, पद्धतियों से अवयवोंसे अनुमानका रूपक बनता है। थोड़ा यों समझलो कि बालकोंको समझाने के लिए ५ अंगोंमें अनुमानका रूपक किया जाता है। जैसे किसीको यह बताना हो कि इस पर्वतमें आग है क्योंकि धुंवां उठ रहा है। आग तो न दिख रही हो और धुंवां उठता चला जा रहा हो तो वहां यह बोला जायेगा कि इस पर्वतमें आग है, धुंवां होनेसे। जहां जहां धुंवां होता है वहां वहां अग्नि होती है, जैसे रसोईघर। जहां आग नहीं होती है वहां धुंवां भी नहीं होता है, जैसे तालाब। और यहां पर धुंवां है इसलिए अग्नि होना ही चाहिए। यह है अनुमानका पूरा रूपक। इसमें ५ अंग आ जाते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इस सम्बन्धमें कई दर्शनशास्त्र कहते हैं कि नहीं, तीनों अंगोंसे काम चल सकता है। प्रतिज्ञा, हेतु दो ही अंगोंसे काम चल सकता है। निद्रा आ गयी। निद्रामें स्वप्नमें ही देखा कि अरे विद्यानन्दी, तुम क्या आशंका कर रहे हो, सुबह उसी मंदिरमें जाओ, उस प्रातिमाके पीछे इसका उत्तर लिखा हुआ मिल जायेगा।

अतिशय और समाधान— विद्यानन्दीस्वामी गये सुबह मंदिरमें तो वहां दो श्लोक लिखे हुए मिल गए। क्या अतिशय था? निर्मल आत्माका क्या प्रभाव बताया जाय? दुनियामें सबसे अधिक अद्भुत जो भी बात आप सोच सकते हैं उससे भी अधिक बल इस आत्मवैभवमें है। आजके जमानेमें भी तो सबसे बड़ा बल एटम बमका बताया गया है। जरा एटममें ए का आ का उच्चारण लेकर बोलो तो एटम बोलो या आत्म बोलो तो उसमें कुछ फर्क है क्या? एटमसे भी बड़ा बल है आत्ममें। किसे इसकी सूझ है। अथवा इसे छोड़—ऋद्धि, समुद्धियोंकि अतिशय जब आप देखेंगे तो वह इस सब विज्ञानसे उत्कृष्ट प्रयोग है। मिले वे दो श्लोक, क्या लिखा था उनमें ‘अन्यथानुपपन्नत्वं यत्रं तत्र त्रयेण किं। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किं। अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र कि तत्र पञ्चभिः।।’ अनुमानका अंग तो अनुमानका साधक तो केवल एक ही है, अन्यथा ‘नुपपन्नत्व’ जिसके बिना जो न हो सके वह हो तो उसकी सिद्धि हो जाती है। बस इतना ही उसमें सारभूत तत्त्व है; जहां यह नियम है वहां उन तीनोंसे या पांचोंसे क्या प्रयोजन है? अन्यथा-नुपपन्नत्व न हो तो वे तीन या पांचों ही इसमें क्या कर देंगे। बड़ा समाधान हुआ है।

विद्यानन्दीस्वामीकी निर्भकिता और मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति— अब

रोजकी भाँति वह विद्वान् राजदरबारमें पहुंचा। उनका जब भाषण हुआ तो उसे सुनकर सब पंडित लोग दंग रह गये। यह क्या बोल रहे हैं? बात भली भी लग रही थी और अपने पहिलेके माने हुए मंतव्यके विपरीत भी लग रही थी। कोई जरा टेही मेही हृषिसे पंडित जी को निहारने लगा तो विद्यानन्दी जी बोले कि अब मेरा सब भ्रम दूर हो गया है, मुझे इस जगत से अब कोई प्रयोजन नहीं रहा। मैंने अपने आत्मा का मर्म पहिचाना है और जो मैं कह रहा हूँ वह यथार्थ कह रहा हूँ, सत्य कह रहा हूँ। स्वाद्-वादके बिना वस्तुका यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता। जिसे संदेह हो वह मुझसे बात करे। मैं समझा दूंगा। यों कहकर सभासे उठकर सीधे मुखियनको जाकर दीक्षा प्रहण की। उन आचार्य स्वामीने जो ग्रन्थ लिखे हैं उनकी शैली ही एक निराली है। यों जो जैनधर्मसे द्वेष रखता हो और हो प्रकारण विद्वान्, अनेक भाषाओंका अनेक दर्शनोंका बड़ा विद्वान् हो, और जैनदर्शनके विरोधमें बहुत कुछ सोच रखा हो, वह अब दर्शनके सम्बन्धमें किस शैलीसे लिख सकेगा? उनकी यह आभा तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक, अष्टसहस्री आदि आदि बड़े चैंचे धार्मिक ग्रन्थोंमें मिलती है।

आचार्यभक्तिका निर्देश — ऐसे आचार्य परमेष्ठी जो हमारे परोक्ष-भूत हैं किन्तु जिनका स्मारक जिनको अंतरंगमुद्राका दर्शन अब भी ग्रन्थों के रूपमें हो रहा है, उन आचार्य परमेष्ठीकी भक्ति करो। उनकी असली भक्ति यही है कि वे जो देन दे गये हैं शास्त्र, उनका ज्ञान बढ़ावो। वे तो जीवन भर तपस्या करके हम आपको बना बनाया अमृतमयी भोजन दे गये हैं और यहाँ हम ऐसे कुपूत बनें कि बने बनाये भोजनको भी नहीं लेना चाहें, तो इससे अधिक विषादकी और कथा बात हो सकती है? ये सब आचार्य परमेष्ठी हमारे वंदनीय हैं।

१२—बहुश्रुतभक्ति

बहुश्रुतभक्तिभावना — अब तीथकर प्रकृतिकी बंधक भावनाओंमें १२ वीं भावना बहुश्रुतभक्ति वर्णित की जानी है। जिनको श्रुतका शास्त्र का बहुत ज्ञान है ऐसे बहुश्रुतधारी साधुओंकी भक्ति करना सो बहुश्रुत भक्ति है। दो नेत्र तो सबके होते हैं पर तीसरा नेत्र कोई महादेव हो उसके ही हो सकता है। तीसरा नेत्र साधारण जनोंके नहीं बनता किन्तु महादेव के ही सम्भव है। वह महादेव जो अनन्तचतुष्पथ करि सम्पन्न है, चार धातिया कर्मोंसे रहित है उसके ऐसा अन्तरमें तीसरा नेत्र प्रकट होता है केवलज्ञान। जिस नेत्रके द्वारा वे समस्त अलोकको एक साथ सप्तष्ठ

जानते हैं और साधुवोंको तो आगमचक्षुः बताया है। मोहीजन तो चर्म-चक्षुवोंसे अपनी समस्त गतियोंका निर्णय करते हैं किन्तु साधुजन आगम चक्षुसे अपनी समस्त गतियोंका निर्णय करते हैं। जिनका श्रुत ही दिव्य नेत्र है ऐसे बहुश्रुत साधुवों की गुरुवोंकी भक्ति करना सो बहुश्रुत भक्ति है।

श्रुतकी आगाधता— शास्त्रोंमें पढ़ा होगा ११ अंग १४ पूर्व और अनेक चूलिकाएँ यह समस्त द्वादशांगका विम्तार है, जिसका विवरण सहित वर्णन करनेमें कुछ ही पुरुषोंको तो रुचि जग सकती है पर प्रायः बहुतोंको रुचि नहीं जग सकती है। किन्तु उसमें इतना संक्षिप्त समझलें कि छद्मस्थ अवस्थामें भी जितना महान् श्रुतज्ञान हो सकता है, उतना श्रुतज्ञान आज नहीं है। उस श्रुतज्ञानका करोड़वां हिस्सा भी ज्ञान आज नहीं है। फिर भी जो बचे हुए शेष आज आपको शास्त्र मिलते हैं, बड़े कठिन संकटोंके समय जहां आपके शास्त्रोंको जलाकर उसमें पानी गरम करके बड़ी सेनावोंने स्नान किया। जहां केवल एक ही प्रोग्राम था, जहां मिलें इनके शास्त्र, ब्रन्थ उन सबको जलावो, पानी गरम करो और खूब नहावो। ऐसे बड़े संकटोंके समयसे भी बचा खुचा जो आज आपके समक्ष साहित्य है वह भी आज इतना है कि जिसकी कहीं तुलना नहीं की जा सकती है। अब समझ लीजिए जो समस्त द्वादशांग का वेत्ता हो अथवा कुछ कम भी, ऐसे जो बहुश्रुत विद्वान् हैं उनकी भक्तिको श्रावकजन कैसा तरसा करते होंगे, कैसी-कैसी उत्सुकता रहा करती होगी ?

परमार्थतः भक्त द्वारा स्वयंके गुणकी भक्ति— कोई भी पुरुष किसी पुरुषसे अनुग्रह नहीं करता है, भक्ति नहीं करता है। जो भक्ति भी करता है वह गुणोंकी भक्ति करता है, और उसमें भी दूसरेके गुणोंकी भक्ति नहीं करता है किन्तु भक्तको स्वयं अपने आपके गुण रुचते हैं और उन गुणोंके माफिक दूसरेमें कोई गुण दिखाई देते हैं तो वह दूसरेके गुणोंका अवलोकन करके अपने ही गुणोंका प्रसाद बढ़ा करके परमार्थतः भक्ति अपने गुणोंकी ही वह भक्ति करता है। यों बहुश्रुत भक्ति नामकी यह भावना है।

बहुश्रुतके साधन स्वामित्व आदिका विवरण— जो ज्ञानीपुरुष श्रुतके धारी हैं, जो स्वयं पढ़ते हैं और अपनी शक्ति माफिक अन्य शिष्योंको पढ़ाते हैं ऐसे बहुश्रुतोंकी भक्ति करना सो बहुश्रुत भक्ति है। श्रुत ११ अंग १४ पूर्व तथा अन्य भी कुछ और है, इतना महान् श्रुत कोई चाहे कि शिक्षा लेकर विद्याध्ययन करके, पाठ याद करके इतने समस्त

श्रुतोंका ज्ञान कर लेवें यह संभव नहीं हो सकता है। उस समरत श्रुतका ज्ञान आन्तरिक तपस्याके प्रभावसे होता है। अध्ययन करके इतने श्रुतका ज्ञान नहीं किया जा सकता है। कोई श्रुतधारी हो तो वह तो उद्घट बहुश्रुत है ही, किन्तु जो वर्तमानमें उपलब्ध बहुश्रुत हैं उनकी भक्तिका परिणाम होना भी बहुश्रुत भक्ति है। इसके अतिरिक्त ऐसे और भी कार्य करना भी बहुश्रुत भक्ति कहलाता है। क्या-क्या? धन खर्च करके शास्त्रों का लिखवाना अथवा स्वयं अपने हाथसे शास्त्रोंका लिखना, रिसर्च करना, हीन अधिक अक्षरोंका संशोधन करना, शास्त्रोंको पढ़ना, जो विशेष जानते हैं उनसे शास्त्रोंका पढ़ाना, व्याख्यान करवाना, पढ़ाने वाले जो लोग हैं उनकी आजीविका आदिकी स्थिरता करके इस ज्ञानधाराके प्रवाहमें सहयोग देना, लाइब्रेरियां खुलवाना ऐसा अनुकूल स्थान बनवाना जहां इकड़ा होकर अथवा स्वयं बैठकर स्वाध्याय ज्ञानसाधना कर सकें-ये सब बहुश्रुत-साधन कहलाते हैं।

श्रुतानुरागमें स्वसमर्पण—बहुश्रुतोंका अथवा शास्त्रोंका पूजन, बंदन करना सो बहुश्रुत भक्ति है। श्रुतभक्तिके समय यह हिसाब नहीं लगाया जाता है कि इससे हमें किनने मापका लाभ हुआ है, इसमें कितना द्रव्य खर्च करें, कितना लगायें, कितना समर्पित करें यह हिसाब नहीं लगाया जाता है। भक्तिमें स्वर्णरत्नोंका समर्पित करना अथवा आभूषण वस्त्रादिक समर्पित करना यह सब बहुश्रुतभक्तिमें सम्मिलित है। जैसे धार्मिक विद्यालयोंमें कितना भी खर्च हो जाय, यदि दो एक भी योग्य संत निकल आयें तो सब पाया। कोई विद्यालय चल रहा था २५, ३० छात्र थे। किसीने कहा कि छात्र तो २५, ३० ही हैं और खर्च इतना है। कितने ही छात्र हों, जितनी कक्षायें हों उसीके हिसाबसे अध्यापक होने चाहिए। तो भाई खर्च बढ़ाता है इसपर गुरुजीका यही समाधान था कि खर्च बढ़ने दो, उसमें यह हिसाब न लगाना चाहिए कि इतना अधिक खर्च हो रहा है और विद्यार्थी २५, ३० ही पढ़ रहे हैं। जो विद्यार्थी अध्ययन कर रहे हैं वे दर्शनशास्त्र, जैनशास्त्र, सिद्धान्तशास्त्र इनका अध्ययन करेंगे। उनमें से किसी विरले छात्रसे अपूर्व धर्मकी प्रभावना हो सकती है। ऐसे ही शास्त्रोंके प्रचारमें अथवा साहित्य लिखनेमें, प्रसारणमें यह हिसाब न कूटा जाय कि इतना व्यय किया और कुछ लाभ तो यहां दीखा ही नहीं, इसका लाभ अप्रकट होता है और महाफौलत होता है।

श्रुतानुरागका आधुनिक एक उदाहरण—सुना होगा श्रीमद् राजचन्द्रजीने समयसार भेट करने वालेको अपने खोबामें रत्न जवाहरात भर

कर उसे भेंट कर दिया था। क्या उस समय यह बुद्धि की गयी थी कि यह समयसार ज्यादासे ज्यादा होगा तो ५० रुप का हागा, १०० रुप का होगा। वहां यह बात नहीं कूर्नी जाती है। जहां बहुश्रुत अथवा श्रुत पर इतना आत्मसमर्पण हो, वहां गुणोंका अनुराग विशिष्ट समझना चाहिए। वह बहुश्रुतभक्ति तीर्थकर प्रकृतिका बंध करने वाली है।

१३—प्रवचनभक्ति

प्रवचनभक्ति— यब बहु श्रुतभक्तिके बाद १३वीं भावना आ रही है प्रवचनभक्ति। प्रवचन नाम है सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी आमकी परम्परासे चले आये हुए आगमका। जैसा आगममें वस्तुका स्वरूप यथार्थ वर्णित है, जिसको सुनकर, जिसका चिन्तन करके यह जीव सर्वसंकटोंसे मुक्त होनेका उपाय पा सकता है, ऐसे प्रवचन परमागमकी भक्ति होना सो प्रवचनभक्ति है। एक हिन्दी स्तुतिमें लिखा है—श्रीजिनकी धुनि दीप-शिखासम जो नहिं होत प्रकाशनहारी। तो किस भाँति पदारथ पांति कहा लहते रहते अविचारी॥ यदि वीर भगवान्से विनर्घत यह देशनाकी परम्परा न चली होती, आज ये शास्त्र न होते तो हम आप लोग कहां सन्मार्ग पाते ? उत्कृष्ट सन्मार्ग वही है जहां किसी भी प्रकारका भय नहीं है। जहां अपने आपको विचारा कि यह मैं आकिङ्चन हूं, सबसे न्यारा हूं, केवल ज्ञानानन्द स्वरूप हूं, मेरा मैं ही हूं, मेरे प्रदेशसे बाहर मेरा कहां कुछ नहीं है, ऐसे जहां दृष्टि होती है वहां संकटोंका क्या काम है ?

वास्तविक संकट— भैया ! संकट तो लोकमें इस ही को कहते हैं। कोई बीमार हो गया, घरका अथवा धनका टोटा पड़ गया या किसी सभा सोसाइटीमें लेंगोंने मुझे गालियां दे दीं, कुछ छोटी बात कह दी आदिक किसी किस्मकी कल्पना जगना, बस यही तो संकट है दुनियामें। कोई बीमार है, कोई निर्वन हैं। अनेकोंपर संकट हैं, अनेकों आकुलता मचाने वाले हैं। ये सब बातें तो अन्य हैं इनमें अंतःसंकट नहीं होते हैं, किन्तु जहां मोहभाव है, जहां अज्ञान अंधेरा छाया है वहां आंतरिक संकट होते हैं। संकट है कहां अन्यत्र ? यह है तो निःसंकट ज्ञानानन्दस्वरूप और इस बातसे चिंगे, बाहर देखा तो आकुलता होने लगती है ना, इसलिए सर्वत्र संकट ही संकट हैं। ऐसा कौनसा बहिरात्मा पुरुष है चाहे वह धनी हो, चाहे राज्यका अधिकारी हो, कौनसा ऐसा पुरुष है जो अंतरंगमें अशांति न रखता हो। बाह्य समागमके आधारपर शांतिका खेला नहीं है। शांति का निषेय ता शुद्ध ज्ञानका कलापर हो सकता है, और यह सब ज्ञान प्राप्ति

होता है हमें परमागमसे । अतः ऐसे परमागमकी भक्ति करना अपने हित के लिए आवश्यक है ।

प्रथमानुयोगकी उपासनामें हितप्रकाश— परमागममें आगममें जितने प्रकारके वर्णन है वह वर्णन सब यथार्थ है और अपनी-अपनी शैलियोंमें वह ज्ञानतत्त्व वैराग्यको पोषने वाला है । प्रथमानुयोग पढ़े तो जब उन महापुरुषोंकी कलावाँको, चर्यावाँको, चारित्रोंको जब पढ़ते हैं तो कोई स्थिति ऐसी होती है कि पढ़ने वालेको कहीं चिन्ता हो जाती है, कहीं साहस बढ़ता है । जैसे-जैसे उन कथनोंकी पात्रतासे कुछ वर्णन चलता है वैसे यहां भी इसमें उत्साह जगना, कुछ चिन्ता होना आदिक बातें होती हैं । जो पुरुष शुद्ध हैं, गुणवान् हैं, मोह ममतासे परे हैं ऐसे पुरुषों पर संकटकी बात पढ़ी जाती है तो यह चिन्ता होने लगती है कि देखा इन महापुरुषोंका परिवार उनके ही जमानेमें कितना संकटमें था । वे आज नहीं हैं तो भी हम आप जब उनके संकटोंकी बात सुनते हैं तो दुःखी हो जाते हैं क्योंकि हम सब उनके परिवार जैसा आचरण कर रहे हैं । उनका जैसा परिवार था हम आप सब भी हैं । हम आप सब भी अपने परिवार पर संकट आने पर दुःखी हुआ करते हैं । हम आप उन गुणवानोंके चरित्र पढ़कर दुःखी हो जाते हैं, उनके संकटकालके चरित्रका वर्णन सुनकर दुःखी हैं इसका कारण यह है कि हम आप भी उनके ही जैसे परिवार वाले बन रहे हैं । हां जब उनके वैराग्यका चरित्र, तपस्याका चरित्र, निर्वाणका चरित्र आता है तो उसे सुनकर स्वयंमें भी ज्ञान और वैराग्यके लिए सफूरणा होती है ।

करणानुयोगकी उपासनामें हितप्रकाश— करणानुयोगके विषयमें क्या बतायें ? सबके स्वाद, सबके अनुभव जुदा-जुदा हैं । मिठास जैसे सब मिठाइयोंमें है, मान लो पूछा जाय फेटा, रसगुल्ला, बंगाली मिठाई इन सबके स्वादमें कैसा-कैसा आनन्द है ? आनन्द लेकर भी मुखसे बता नहीं सकते हैं ? यों ही इन सब अनुयोगोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे हितस्वरूपका वर्णन किया है । करणानुयोगके अध्ययनमें जब आप बारीकीसे पढ़ते हैं तो कहीं कर्मोंका क्षपण हुआ, कहीं उदय हुआ, कहीं आगेकी स्थितिके निषेक निकटकी स्थितिमें मिल जाते हैं । कैसे उनकी शक्ति नष्ट हुई, कैसे वे संक्रात हुए, कैसे उनका क्षय हुआ इत्यादि ? जब अनेक बातें पढ़ते हैं तो उस समय चूँकि एक तो विषयकषायोंमें उपयोग नहीं रहा, दूसरे इतने उपयोगकी बात गहरे तत्त्वकी बात जो एक अपूर्व है, उसको सुनकर श्रद्धा बढ़ी, ज्ञान बढ़ा, आचरण बढ़ा और ऐसी भक्ति बढ़ती है कि धन्य हैं वे

आचार्यजन, वे कैसे ज्ञानके समुद्रथे और जब इन आचार्योंमें ही इतनाँ विशिष्ट ज्ञान है तो जिनकी परम्परामें ये आचार्यजन यह सब ज्ञान बताएँ रहे हैं ये अवश्य ही पूर्ण सर्वज्ञ हैं। इसमें कोई संदेह नहीं। किनती तरह की शुद्ध तर्कणाएँ जगती हैं और उनसे कैसा अनुपम आनन्द प्रकट होता है ?

चरणनुयोगकी उपासनामें हितप्रकाश—चरणनुयोगकी शैली में भी विशिष्ट शुद्ध आनन्द जगता है। जैनसिद्धान्तमें चरित्रका जो क्रमिक वर्णन है सन्ध्यात्त्वसे लेकर महाव्रत पर्यन्त तक और आगे भी अपेक्षा निश्चय परमध्यान तक जो बाह्य और अन्तरंग आवरणका वर्णन है उसको क्रमसे निरत्वकर किनने ही मनुष्य इस सिद्धान्तके श्रद्धालु हो जाते हैं।

द्रव्यानुयोगकी उपासनामें हितप्रकाश—द्रव्यानुयोगका वर्णन दो विभागोंमें है—एकको समझ लीजिए न्यायशास्त्र और दूसरा समझ लीजिए अध्यात्मशास्त्र। न्यायशास्त्रमें युक्तियोंसे, साधनोंसे, विकल्पोंसे तर्कणाएँ उठाउठाकर समाधान करते रहनेसे वस्तुसंबंधी किनने तत्त्वकी बातें विदित कर ली जाती हैं और अध्यात्मशास्त्रमें आत्मतत्त्वके द्रव्य-गुण पर्यायपूर्वसे वर्णन करके फिर ऐसा जो उपाय बताया गया है जिससे यह जीव क्रमशः बाहरसे निवृत्त होकर अन्तरमें सहजशुद्ध स्वभावमें प्रवेश करता है। इन दोनों शास्त्रोंका वर्णन अपने उद्देश्यको लेकर है, किन्तु जो पुरुष इन शास्त्रोंके जानकार है और इन दोनों शास्त्रोंकी जानकारीके कारण अध्यात्ममें न्यायछटा और न्यायमें अध्यात्मकी भलक ऐसा परस्पर आदान-प्रदान करते हुए जो तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं उनके आनन्दको कौन बता सकता है ? यह आनन्द बड़े वैभवसे, सम्पदावांसे, राज्योंसे नहीं खरीदा जा सकता है। जो शांतिकी कुञ्जजी है वह अपने आपकी निर्मलता पर आधारित है।

लौकिक और अलौकिक चतुराई—इम सबका कर्तव्य यह है कि उन प्रवचनोंका अर्थात् शास्त्रोंका श्रवण कर, पठन पाठन कर कुछ लाभ उठायें। यही उन शास्त्रोंका समग्र उपदेश है कि उन्हें आपके सारे भ्रम-जालको समाप्त करदें। हां उन्हें ये मायामय लोग इस मायामयी दुनियामें चतुर न मानेंगे, पर इस मायामय दुनियामें कुछी कुछ चतुराई अकट करनेका फल बड़ा भयानक है। किसी इष्टका विशेष होने पर यदि कोई ज्ञानी पुरुष उसका दुःख प्रदर्शित न करे, तत्त्वज्ञानका उपयोग करके अपने अन्तरंगमें प्रसन्न रहे और दुःख भरी बात न करे जो रिश्तेदारोंकी निगाह में वह चतुर नहीं माना जाता। चतुर तो तब माना जायगा जब थोड़ा

रोने भी लगे और थोड़ी हुँख भरी बातें भी कहने लगे। ये मायामयी पुरुष विरुद्ध आचरण करनेमें अपनी चतुराई समझते हैं किन्तु क्या है चतुराई? क्या है अपनेसे बाहरमें कुछ? कुछ भी तो अपना अपनेसे बाहर नहीं है, ऐसा अंतःप्रकाश ज्ञानीपुरुषके ही हुआ करता है।

प्रवचनभक्तिमें तीर्थकर प्रकृतिका बंध— यह ज्ञानीपुरुष इन प्रवचनोंका अर्थात् शास्त्रोंका, आगमोंका अध्ययन करके, चितन करके अंतरंगमें प्रसन्नता प्राप्त करता है। इन प्रवचनोंकी भक्ति करने वाले पुरुषके जब संसारके पुरुषोंपर जब परमकरुणाकार भाव रहता है। ओह! ये सब जिसका वर्णन जिन प्रवचनोंमें किया गया है ऐसे इस निजअंतसत्त्वका रंच भी मुड़कर दर्शन नहीं करते, इस कारण इतने घोर संकट सह रहे हैं। जिन के इतनी सदबुद्धि जगे। जो ऐसी करुणाका भाव करते हैं उन पुरुषोंके तीर्थकर प्रकृतिका बंध होता है।

प्रवचन परम्परा— यह प्रवचन अर्थात् यह आगममूलमें सर्वज्ञ हितोपदेशी वीतराग तीर्थकर देवकी दिव्यध्वनिसे विकसित हुआ है। इस समय जो तीर्थ चल रहा है वह अंतिम तीर्थकर धीर प्रभुका तीर्थ चल रहा है उनकी दिव्यध्वनिके परम उपासक गौतम गणधरने श्रुतज्ञानके बलसे उस दिव्यध्वनिको फेला और द्वादशांग रूप रचना की व ज्ञानियोंको प्रकट किया। क्रमशः उनके बाद कुछ समय तक तो निरविच्छिन्न चलाते फिरे कुछ कम रह गया फिर और कम रह गया! ऐसा होते हुए आज यद्यपि अंग और पूर्वोंके रूपमें ज्ञान नहीं है फिर भी उनके भावके अनुकूल जो आज अन्थ रचे हैं, हमारे इन ऋषि संतोंने जिनकी रचना की है वह आज अपना प्रकाश दिये जा रहे हैं, उन शास्त्रोंकी प्रीतिपूर्वक सेवा करना, उपासना करना, उनके भावको अपने हृदयमें धारण करना सो प्रवचनभक्ति है।

प्रवचनभक्तिकी आवश्यकता व पद्धतियाँ— प्रवचनभक्ति कल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक है। हम सबका कर्तव्य है कि स्वाध्यायकी रुचि बनायें। स्वाध्याय बिना पाप नहीं छूट सकता, कषायोंकी मंदता नहीं हो सकती। शास्त्रोंके भावको अपने हृदयमें धारण किए बिना संसार शरीर और भोगोंसे बैराग्य उत्पन्न नहीं हो सकता। शास्त्रोंके मर्मको जानकर परमार्थतत्त्वका विचार भली प्रकार कर सकते हैं। ऐसे आगमकी उपासना करना और इस आगमज्ञानके देने वाले जिसके समान अपना उपकारी और कोई नहीं है ऐसे ज्ञानदाता गुरुके उपकारका लोप न करना और ज्ञानदाता अथवा प्रवचन अर्थात् शास्त्रआगम इनकी उपासना करना सो

प्रवचनभक्ति है।

१४—आवश्यकापरिहाणि

आवश्यकापरिहाणि भावना— अब १४ वीं भावनाका नाम बतला रहे हैं आवश्यकापरिहाणि। अर्थात् आवश्यक काममें परिहाणि न करना, कमती न करना, छोड़ न देना, आवश्यक काम करते रहना ऐसी भावना का आना सो आवश्यकापरिहाणि भावना है। आवश्यक कार्यका अर्थ है मुक्तिपथमें बढ़नेके लिए, शांतिके स्थानमें पहुंचनेके लिए जो और कर्तव्य हैं उन्हें आवश्यक कार्य कहते हैं, अथवा अवश्यपुरुषके कामका नाम आवश्यक कार्य है। अवश्य उसे कहते हैं जो किसी परके आधीन न हो, विषय भोगोंका रुचिया न हो, किन्तु एक निःस्वरूपका उपासक हो ऐसे भव्य पुरुषके द्वारा जो कार्य किया जाय उसे आवश्यक कार्य कहते हैं। उन आवश्यक कार्योंमें शिथिलता न करना, हानि न पहुंचाना सो आवश्यकापरिहाणि है। ये आवश्यक कर्तव्य ६ हैं, (१) सामायिक, (२) स्तवन, (३) वंदन (४) प्रतिक्रमण, (५) स्वाध्याय और (६) कायोत्सर्ग।

सामायिक आवश्यक— सामायिक नाम समतापरिणाम रखने का है। इष्ट अनिष्ट नाममें, इष्ट अनिष्ट स्थापनामें, इष्ट अनिष्ट द्रव्यमें, इष्ट अनिष्ट क्षेत्रमें, इष्ट अनिष्ट कालमें और ऐसे ही इष्ट अनिष्ट विभावमें राग-द्वेष न करना, समानहृषिसे ज्ञातादृष्टा रहना सो सामायिक नामका आवश्यक कार्य है। ज्ञानी विरक्तसंत किसी भी स्थितिमें उन सब साधनोंमें अपने मूल उद्देश्यका त्योग नहीं कर देता। ज्ञानीका उद्देश्य है ज्ञातादृष्टा रहना और किसी परपदार्थमें सुहावनी और असुहावनी दृष्ट न रहना, इस लक्ष्यसे गुणी पुरुष कभी विचालित नहीं होता। ऐसे समतापरिणामकी भावना बनाये रहना सो सामायिक नामक आवश्यक कार्यकी अपरिहाणि भावना है।

स्तवन आवश्यक— चतुर्विंशति तीर्थकरोंका स्मरण करना सो स्तवन है। मोही जीवका समय किसके स्तवनमें व्यतीत होता है सो जानियेगा। कुदुम्बियोंके, मित्रोंके, स्त्रीके, पुत्रोंके इनके गुणोंके वर्णनमें उनका समय व्यतीत होता है। पिता अपने पुत्रकी बड़ाई करके अपना महत्त्व समझता है, मेरा लड़का बड़ा आज्ञाकारी है, बड़ा सीधा है, सदाचारी है, और स्त्रीकी बात तो प्रायः बहुतसे जन किया ही करते हैं। ठीक है, स्त्री का नाम वैसे भी नहीं चलता, तो कमसे कम इतनी तो उनको बड़ाइया बात मिली कि उनके पति जो जगह-जगह उनकी बड़ाइकी बातें करते हैं, स्त्रीका

यथा फैला देते हैं। क्या कोई स्त्रीका नाम पूछता है? पूछा जाता है कि यह कौन है? तो यही कहते हैं कि यह फलानेके घरबाली है। उसका नाम कोई नहीं लेता। और पुरुषोंको पूछो कि यह कौन है, तो कोई यह नहीं कहता है कि ये फलानेके पति हैं। उस पुरुषका नाम लेकर कह देते हैं कि यह अमुकचंद हैं, अमुकलाल हैं, अमुक प्रसाद हैं। तो चलो प्रकृतिसे पुरुषको नामका का मौका मिलता है तो प्रकृतिसे ही स्त्रीकी बढ़ाई बताकर उसका पति उसका नाम जाहिर कर देता है। तो क्या क्या स्तवन किया करते हैं मोही पुरुष? स्त्री पतिकी बढ़ाई करे, पुत्र पिताकी बढ़ाई करे, कोई मित्रोंकी, पर ये सब बढ़ाई करना संसारमार्गको बढ़ाना है। इस बढ़ाई में अन्तरमें मोह पाप छुपा हुआ है, नहीं तो उससे बढ़कर कोई दूसरा नहीं है क्या जगतमें? सबसे बढ़कर उसे वही मिला क्या? और उससे भी रूपवान्, कलावान्, सज्जन पुरुष पड़े हुए हैं, पर यह सब मोहका नाच है, पर ज्ञानी संत जिसे मुक्ति ही प्रिय है, स्वभावहृष्टि ही जिसका सर्वस्व है वह स्तवन करेगा तो जिसने स्वभावहृष्टि करके एक परमधाम प्राप्त किया है, मुक्त अवस्था, जीवनमुक्त दशा प्राप्त की है उसका स्तवन करेगा। जीनराग सर्वज्ञका स्तवन करनेसे पाप कट जाते हैं और सराग मायामयी विषयोंके साधनभूत जीवका स्तवन करनेसे पाप बढ़ जाया करते हैं। यह तो कुछ युक्तियोंसे भी समझा जा सकता है। ज्ञानीपुरुषका यह एक आवश्यक कर्तव्य है कि वह तीर्थकर देव, अरहंतप्रमु इनका स्तवन किया करे।

वंदना आवश्यक—उपास्थ देवोंमें से एक-एकका नाम लेकर उनके चारित्र उनके गुणोंपर हृष्टि देकर स्तवन करें, वंदन करें, प्रणाम करें यह तीसरा आवश्यक कार्य है। तीर्थकर, अरहंत, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय, साधुमें एक एकका नाम उच्चारण करके स्तवन प्रणाम करना, इनके एक-एक प्रतिविम्बादिकी वंदना करना, सशरीर व्यक्तिरूपकी वंदना करना, अरहंत आचार्यादिकोंके एक एकके आवास क्षेत्रोंकी वंदना करना, उनके एक एकके जन्म दीक्षा निर्वाण आदिकी तिथियोंमें विशेष स्मरणसहित वंदना करना, उनके एक एकके गुणोंको याद कर कर वंदन करना—ये सब वंदना नामक आवश्यक कार्य हैं।

प्रतिक्रमण आवश्यक—चौथा आवश्यक कार्य है प्रतिक्रमण।

प्रतिक्रमणका बढ़ा महत्व है। यह जीव अनादिसे दोषोंसे लिप्त चला आ रहा है। कुछ अपने दोषोंपर जरा विषाद भी करनेका, पछताबा भी करने का विवेक नहीं जगता और यह यों ही रुलता चला जा रहा है। उन दोषोंकी शुद्धि करना अति आवश्यक कार्य है। दोषशुद्धि किये बिना मोक्षमार्ग

में आगे बढ़ा न जावेगा । ये प्रतिक्रमण अनेक प्रकार के हैं ।

दैवसिक प्रतिक्रमण— प्रथम तो दिन में लगे हुए दोषों को शाम के समय चितन करना, पछतावा करना, वे अब न लगें ऐसी भावना करना, उनको दूर करना, ये दोष यों ही लग गये हैं विकल्प और विभावों से, ये मेरे स्वभाव से नहीं आये, ये मेरे कर्तव्य भी न थे । मैं तो स्वभावरूप हूं । स्वभावरूप जो फल हूं उस फल को ही तो अनुभवूँ—ऐसी भावना बनाना यही हुआ दैवसिक प्रतिक्रमण ।

रात्रिक प्रतिक्रमण— रात्रिमें अपनी प्रवृत्तियों से जो दोष हो जाते हैं उन दोषों की शुद्धि प्रातःकाल की जाती है, वह कहलाता है रात्रिक प्रतिक्रमण । जैसे कोई कुशल व्यापारी रोज अपने दिन भर के व्यापार का नफा टोटा देख लेता है, आज कितना गया, कितना आया यों ही मोक्षमार्ग में शुद्धभावों का व्यवसाय करने वाला यह पुरुष एक बार नहीं किन्तु २४ घंटे में दो बार शाम को और प्रातःकाल अपना नफा टोटा निरखता है । मैंने अपनेमें कौनसी वृत्ति ऐसी बनायी, कौनसा अंधेरा ऐसा बनाया जिससे मैं बेहोश बन गया और कौनसा ऐसा शुद्ध अवलोकन किया जहां प्रकाश पाया । नफे और टोटे का शाम और सुबह हिंसाव लगाना ये है दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण ।

ईर्यापथ प्रतिक्रमण— फिर एक होता है ईर्यापथ प्रतिक्रमण । थोड़ा चल चलकर ठहरे, चलकर आये वहां अपने अंगों के हलन चलन से जो दोष होता है, अपराध बने हैं उन अपराधों का प्रतिक्रमण करना सो ईर्यापथ प्रतिक्रमण है । चलने के बाद ठहरे अथवा कुछ भी कार्य करे, अन्त में प्रतिक्रमण किया जाता है । दोष लग रहे हैं तो उन दोषों के दूर करने का भी उद्यम करना ।

पाक्षिक प्रतिक्रमण— पक्ष भर में, ५५ दिन में लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है । प्रतिक्रमण का अर्थ यह है कि जो दोष लग गये हैं उन दोषों को ज्ञानबल से दूर करना । वे कैसे दूर हो ? उन दोषों से दूर रहने का जो स्वच्छ सहज स्वभाव है उस स्वभाव का आदर करना, उस स्वभाव के आदर में वे किए हुए दोष दूर हो जाते हैं । क्वेल कहने मात्र से कुछ नहीं होता, जब आचरण ही वैसा बनाए तो परमार्थ प्रतिक्रमण होता है ।

परमार्थ प्रतिक्रमण में विशुद्ध भाव पुरुषार्थ— प्रतिक्रमण के पाठ में एक शब्द आता है 'मिच्छामे दुक्कडे होत्तज' मेरे सर्वपाप मिथ्या हो जायें । कोई पुरुष जैसे किसी दूसरे पुरुष को मारे पीटें, गाली दे और फिर वही

कह देवे कि हमने जो कहा हो सो माफ करो । फिर पीट दे, फिर कहे कि मैंने जो कुछ कहा हो सो माफ करो । फिर पीट दे तो वह उसका शुद्धि-करण नहीं है । ऐसे ही निर्दोष सहजस्वभावके अबलोकन विना इस शब्द मात्रके कहने पर प्रतिक्रमण नहीं हो जाता । भला प्रत्याख्यानमें तो यह कह सकते हैं कि केवल भावना करके अब यह मेरे स्वरूपमें न लगे । ठीक है आलोचना भी ठीक है । वर्तमान दोषोंका गुरुसे निवेदन कर रहे हैं पर लगे हुए दोष न लगकी तरह हो जायें इसका उपाय क्या है ? अरे जब जो लगा करेंगे, वे उस दोष लगनेका नियमित पाकर जो कर्मबंधन होना था हो गया । कुछ लगा हो तो भी न लगे हुए की तरह कर डाले, ऐसा यह प्रतिक्रमण किस उपायसे हो सकता है ? वह उपाय है सहजस्वभावका दर्शन, मूलकी पकड़ । जो आचरण रूपमें यह मेरे उपयोगमें केवल आ जाया करता है ।

चातुर्मासिक, सांवत्सरिक व उत्तमार्थ प्रतिक्रमण— चार महीनेमें लगे हुए दोषका प्रतिक्रमण करनेको चातुर्मासिक प्रतिक्रमण कहते हैं । जो वर्ष भरमें लगे हुए दोषों को दूर करनेका यह यत्न करेगा उसे बाहिक-प्रतिक्रमण कहते हैं और सारी जिन्दगीभर जो दोष लगते हैं उनका एक उपसंहाररूपसे प्रतिक्रमण करना सो उत्तमार्थ प्रतिक्रमण कहलाता है ।

प्रत्येकको सर्वप्रतिक्रमणोंकी आवश्यकता— ये प्रतिक्रमण ऐसे जुदे-जुदे प्रकारके नहीं हैं कि रोज-रोज कुछ न विचारे प्रतिदिनमें कुछ न प्रतिक्रमण करे । बस चार महीने पूरे हो गए सो एक जने पोथी लेकर बैठ जायें और शुरूसे लेकर अंत तक पढ़ लें और मानलें हो गया प्रतिक्रमण । न रोज-रोज करे ऐसा नहीं है । नियमित रूपसे प्रतिदिन प्रतिक्रमण करने वाला पक्षमें एक बार भी प्रतिक्रमण करता है व तीनों प्रकारके प्रतिक्रमण करने वाला चातुर्मासिक प्रतिक्रमण भी करता है और इस प्रकार इन सब प्रतिक्रमणोंका करने वाला फिर वर्षमें उपसंहाररूपसे प्रतिक्रमण करता है और इन सब प्रतिक्रमणों सहित और आचार संयमों सहित अपना जीवन बिताते हुए अंतमें जब मरण समय होता है तो सर्वदोषोंका परिहार करके एक पूर्णप्रतिक्रमण करता है । यों इस प्रतिक्रमणमें स्वभावहृष्टिके बलसे अपनेको निर्दोष स्वच्छ ज्ञायकस्वरूपमें प्रतीति करनेसे इसके दोषोंकी शुद्धि होती है अतः वह पुनः दोष क्या करेगा ? यों परमार्थ प्रतिक्रमण नामक आवश्यक कर्मकी भावना करना सो प्रतिक्रमण आवश्यकापरिहाणि है ।

स्वाध्याय आवश्यक— स्वाध्याय नामका भी एक आवश्यक कर्तव्य है । स्वाध्याय करना, स्व का अध्ययन करना, सो स्वाध्याय है । अपने

आत्मतत्त्वका मनन करना आदिक स्वाध्याय है। कुछ भी हम पढ़े उससे हमें क्या ग्रहण करना चाहिए ऐसा स्वहितरूप मनन करना सो स्वाध्याय है। केवल बाहरी बातोंको जानकर दिल बहला लेना, जैसे बुद्ध देखा, कोई दृश्य देखा तो दिल खुश हो जाय यों ही ज्ञान बढ़ाकर एक परिज्ञान कर लेना, अपने दिलको खुश कर लेना इसे स्वाध्याय न कहेगे, किन्तु उन सब परिज्ञानोंसे आत्महितका शिक्षण लेना और आत्महित का आचरण करने की प्रतीता बनाना सो स्वाध्याय है।

कथानक व देहावगाहताके वर्णनसे स्वहितद्विष्ट— जैसे प्रथमानुयोग में कुछ पढ़ते हैं तो उस जैसी ही योग्यद्विष्ट व कार्य करनेका अपनेमें साहस बनाया और द्वेय बनाया तो स्वाध्याय हुआ। जहां करणानुयोगको पढ़ते हैं, ऐसे-ऐसे शरीर हैं। सबसे विशाल देहका एक हजार योजन लम्बा, ५०० योजन चौड़ा और २५० योजन मोटा स्वयंभूरमण समुद्रमें मत्स्य है और वह एक-एक सून घटते घटते सबसे छोटा देह चंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाणका है। तो कितने प्रकारके जीवोंके देह हो गए? इन सब देहोंमें जन्म एक निज सहजचित्स्वरूपके परिज्ञानके बिना हुआ करता है। ऐसा शिक्षण प्राप्त करके इस जगतके मायामयी स्वरूपोंका वर्णन पढ़ते जा रहे हों, उससे यह शिक्षा लेना कि ये सारी विडम्बनाएँ, ऐसी-ऐसी देहोंमें उत्पन्न होना ये सब अपने आपकी संभाल बिना हो रहे हैं, ऐसा अपने आत्महितरूप अध्ययन करना सो स्वाध्याय है।

कर्मरचनाके स्वाध्यायमें स्वहितद्विष्ट— जहां कर्मोंकी रचना पढ़ते हैं वहां यह समझ लेना कि ये कर्मबन्धन निमित्त-नैमित्तिक भावसे हो जाते हैं। इनमें मूल कारण मेरा स्वयंका प्रमाद है, अपने आपके स्वरूपकी द्विष्टमें यह दृढ़ नहीं रहता है और ऐसी स्थितिका निमित्त पाकर ये सब बंधन और जमाव बन जाते हैं। मैं अपने स्वभावकी ओर उन्मुख होऊँ और इन सब बंधनोंसे दूर होऊँ। जो स्वाध्याय आत्महितरूप शिक्षण लेवे वह स्वाध्याय कहलाता है।

लोकरचनाके स्वाध्यायमें स्वहितदर्शन— लोककी रचना पढ़ते समय क्या ख्याल आना चाहिए? अहो! लोकमें यों रचना है—मध्य और अर्द्धज्ञोंमें ऐसी-ऐसो रचनाएँ हैं। ३४३ घनराजू प्रमाण यह लोक है। जान लो अब इसमें स्वाध्याय क्या हुआ? अहो! एक आत्मज्ञान बिना एक मोह ममता अहंकारका परित्याग किए बिना इस ३४३ घनराजूप्रमाण लोकमें जन्ममरण करना पड़ता है। तो सर्वप्रथम वह कर्तव्य है कि हम अपने सहजस्वरूपका परिचय प्राप्त करें, अहंकार और ममकारको त्यागें,

ऐसा आत्महित रूप अध्ययन होना इसका नाम स्वाध्याय है। यों ही चरण-
नुयोग और द्रव्यानुयोगमें जो कुछ भी विवेचन है उसका अध्ययन करके
अपने आपको हितरूपमें ढालना यह स्वाध्याय नामक आवश्यक कार्य है।

कायोत्सर्ग आवश्यक— अंतिम कर्तव्य है कायोत्सर्ग। इस देहसे
भी ममत्वका त्याग होना सो कायोत्सर्ग है। ऐसा कायोत्सर्ग न करना कि
धन पैसा कमाने के लिए इस शरीरसे ममता न करें। भूखे प्यासे ही पैसा
कमानेके लिए चले जा रहे हैं, धूपमें फिर रहे हैं, कायसे ममता तो नहीं है
ना, कायोत्सर्ग हो गया ना? अरे वहां भी कायसे ममता ही है। जहां
शरीरसे भी ममत्व नहीं है वहां धन वैभव आदिसे भी ममत्व नहीं है, ऐसा
उसमें गर्भित है। समस्त बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहकी ममताका त्याग
होना सो कायोत्सर्ग है। जिन रागद्वेषादिक विभावोंमें परिणाम रहे हैं उन
परिणामों तकसे भी ममता नहीं होती है इस कायोत्सर्ग कर्तव्यमें। ऐसे
इस आवश्यक कर्तव्यमें हानि न करना सो आवश्यकापरिहाणि परिणाम
है। ऐसी भावना रखने वाले ज्ञानी पुरुषके समस्त विश्वपर अपार करुणाके
प्रसादसे तीर्थकर प्रकृतिका बंध होता है।

१५—सन्मार्गप्रभावना

सन्मार्गप्रभावना— तीर्थकर प्रकृतिके बंधके कारणभूत [भावनावोंमें
आज १५ वर्षों भावनाका वर्णन चल रहा है। इसका नाम है सन्मार्ग प्रभा-
वना। सन्मार्ग मायने भोक्षका मार्ग, शांतिका रास्ता, उसकी प्रभावना
करना, विस्तार करना, प्रसार करना सो सन्मार्ग प्रभावना है। देखो किस
मार्गसे चलें तो वास्तवमें मुझे शांति हो। वही तो सन्मार्ग है। आत्मा
स्वयं शांतिका घर है, ज्ञानानन्दका पुङ्क है, रागद्वेषादिक परभावोंसे
और परपदार्थोंके सम्पर्कसे रहित है। ऐसे विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र
आत्मतत्त्वकी श्रद्धा होना, उसका परिज्ञान होना और उस ही में रमण
होना इसे कहते हैं सन्मार्ग। इस सन्मार्गकी प्रभावना हो उसे कहते हैं
सन्मार्ग प्रभावना।

अनादि परिग्रहणमें अब दुर्लभ भवलाभ— अनादिकालसे भटकते
इस जीवने दुर्लभतासे यह मनुष्यजन्म पाया है। ख्याल तो करो, न होते
आज मनुष्य, अन्य किसी छोटे भवमें होते तो आज ममता करने के लिए
अहंकार करनेके लिए क्या ये साधन होते? पाया है मनुष्यजन्म तो गर्व
करने के लिए नहीं, ममताके लिए नहीं, किन्तु सदाके लिए हमारे संकट
छूट जायें ऐसा उपाय बनानेके लिए मनुष्य हुए हैं ऐसा समझो। प्रथम

तो निगोदसे निकलना हो कठिन है। अनन्ते जीव अब भी निगोद अवस्था में जन्ममरणके दुःख एक श्वासमें १० बार भोगते चले जा रहे हैं। उस निगोद अवस्थासे निकलकर अन्य स्थावरोंमें यह जीव आया, वहांसे भी निकला तो दो इन्द्रियमें आया, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असंज्ञीपंचेन्द्रिय हुआ, उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहा, बादमें संज्ञीपंचेन्द्रियके भवमें आया। ध्यान में लाते जाइये कि हम जिस स्थितिमें आज हैं वह कितनी उच्छृष्टि स्थिरि पायी है? संज्ञी जीवोंमें भी मनुष्य होना दुर्लभ है। मनुष्यके ही सबसे श्रेष्ठ मन होता है। यही श्रेष्ठतेवली बनता है, यही क्षेत्रली बनता है, इसही भव से मुक्ति प्राप्त होती है। सो मनुष्य भी हो गये।

मनुष्यभवमें भी उत्तरोत्तर दुर्लभ तत्त्वलाभ— मनुष्योंमें भी जो श्रेष्ठ समागम है वह भी मिला, उत्तम देश मिला, उत्तम कुल मिला, उत्तम जाति मिली, ये कितनी दुर्लभ बातें हैं? मनुष्य भी हुए, नीच कुल बाले हुए, नीची जाति बाले हुए तो वहां भी संस्कार पापविषयक ही रहे। इस के बाद फिर ऐसे निर्दोष पवित्र धार्मिक बातावरणका मिलना यह कितनी दुर्लभ बात है? जहां अहिंसाकी सर्वत्र पुट है, पर्व मनावें तो अहिंसा प्रधान, समारोह मनावें तो अहिंसा प्रधान। पूजा पाठ धर्मसाधन, रोजगार आरम्भ सभामें अहिंसाकी पुट लगी हुई है। ऐसा धार्मिक बातावरण पाया यह भी कितनी कठिन बात पा ली है? इसके बाद फिर धर्मको धारण करनेकी शक्ति मिली है। धार्मिक तत्त्वोंको सुनने और समझनेकी योग्यता जगी है। यह भी कितनी दुर्लभ बात है? फिर ऐसा समागम मिला है जिससे धर्ममें स्थिरता जगती है। सम्यक्त्व और सम्यक्त्वके अनुसार फिर कुछ अपना आचार भी बने इतनी समस्त बातें भी मिली हैं आज, किन्तु इस मनको विषयकषायोंके भोगोंके ख्यालमें ही गवायें दे रहे हैं तो हम आप कुमार्गकी प्रभावना कर रहे हैं। करना चाहिए सन्मार्गकी प्रभावना।

सदाचरणमें सन्मार्ग प्रभावना— यह सन्मार्ग प्रभावना खुदके शुद्ध आचरण किए बिना हो नहीं सकती। धनसे, धनके स्वर्च करनेसे और बड़े-बड़े विधान, पूजा, कल्याणक, घंचकल्याणक आदि सब कुछ समारोह मनानेसे, बड़ा धन वैभव खर्च करनेसे लोगों पर क्षाष क्या सन्मार्गकी पड़ सकती है? अरे लोगोंके हृदयमें सन्मार्गकी क्षाष पढ़ेगी तब, जब खुद सन्मार्गपर चलकर सामने उन्हें दीखेंगे। अन्यथा वहां ही लोग कहने लगते हैं। वास्तवमें भी कि जिसने खुद भटा खाये, वह दूसरोंको भटाके त्यागका क्या उपदेश देगा? यह कथा सुनी है क्या आपने?

असदाचारीसे सन्मार्ग प्रभावनाका अभाव, एक हृष्टान्त— सुनिये एक कोई वक्ता सभामें भटाके अवगुण बता रहा था । भटामें सबसे बड़ा अवगुण यह है कि उसमें इस तरहकी पर्त होती है कि दो-दो अंगुलके भटेके ढुकड़े भी बना लें तो भी कीड़ा छुपा हुआ रह सकता है । उसमें कीड़ा है कि नहीं, यह आप जान नहीं सकते । ऐसा भटेके त्यागका उपदेश कर रहे थे । बादमें घर पहुंचे । स्त्रीने भी सुन रखवा था कि भटामें बड़े अवगुण बताये हैं हमारे पतिजीने व इसके त्यागका उपदेश भी दिया है । सो जो भटा बनाये रख्ले थे पहिलेके उठाकर नालीके पास फेंक दिया, क्योंकि बेकार हैं । अब भोजन करने आये भाईजी तो कहा— और भटा नहीं बनाया क्या ? स्त्री बोली कि आपने ही उपदेश किया था सो हमने जल्दी आकर उन भटोंको फेंक दिया । ‘‘अरी बटोर ला ऊपर-ऊपरसे । यह क्या ?’’ और वह तो दूसरोंके लिए कह रहे थे ।

असदाचारसे सन्मार्ग प्रभावनाका अभाव— हम अन्यायसे चलें, अशुद्ध व्यवहार करें, दूसरोंपर दया न रखें, अनेक प्रकारके दग्गाबाजी, छलके काम करें, इस तरहके हम काम करने वाले तो लोककी निगाहमें हैं, पर हम धर्मके नाम पर पैसा खर्च कर दें तो इससे उनके चित्त पर सन्मार्गकी छाप नहीं पड़ सकती । न भी खर्च करनेको धर्मसमारोहमें अधिक तो न सही, पर खुद भले आचरणसे रहते हों तो सन्मार्गकी प्रभावना बराबर चलेगी । दूसरी बात इस सन्मार्गकी प्रभावना किन दूसरोंमें करना है सो बताओ ? और खुदके सन्मार्गकी बात मनमें लाओ । शांति तो नीति और सच्चाईमें मिलती है । यह बात खूब अनुभव करके देख लो । अनीति और छल मिथ्या प्रपंचोंसे कदाचित् कुछ बैंधव आता है तो वह केवल कल्पना है कि इस तरहसे आया, पर वह तो पुण्यका उदय पा कर आता है, चाहे उस समय अच्छे भाव कर लिये जाते तो आता बुरे भावसे तो कुछ कमी ही हो गई । वहां यह निर्णय करो कि पहिले अच्छे भाव कर लिये थे तो आया है ।

वास्तविक प्रभावना— आ गया । मान लो कुछ धन है तो वह शांति का कारण तो है नहीं । शांतिका कारण यदि बैंधव, सम्पदा, लौकिक, यश प्रतिष्ठा होती तो तीर्थकर चक्री आदि ६ खरण्डकी विभूतिको त्यागकर अपने आपके सन्मार्गमें क्यों बढ़ते ? जो मनुष्य अपना आचरण शुद्ध बनाकर अपना उपकार करता है उससे दूसरोंका उपकार स्वयमेव होता रहता है । वास्तविक प्रभावना तो यह है कि अपने रत्नत्रय तेजके द्वारा अपने आत्मामें प्रवेश करें और अपने सत् आचरणको देखकर प्रजा लोग

भी सन्मार्ग पर चले और किर विधान पूजन समारोह जलसोंमें सब कुछ करें तो वह भी प्रभावनाका अंग बनेगा।

धार्मिक समारोहमें विशिष्ट अस्युदय—धार्मिक समारोहके कार्य भी प्रभावनाके ही अंग हैं। मंडप सजाकर प्रभुकी पूजा हो, अभिषेक हो। अभिषेक तो रोज-रोज करते हैं तबके भावोंको देख लो, और किसी समारोहके समय जबकि सब शांत बैठे हों, धार्मिक भावोंसे ओतप्रोत हों उस समयकी वृत्तिको देखकर उपयोग ऐसे हृश्योंमें चला जाय कि मानों तीर्थकर प्रभुके पुण्यके प्रतापसे प्रेरित यह इन्द्र उनका अभिषेक कर रहा हो, खूब सज धजकर बड़े ध्यानसे, तो हृदय गद्गद हो जाता है। ये भी प्रभावनाके अंग हैं, पर मूल बात यह है कि भावना करने वाले सधर्मजिनोंका आचरण स्वयं पवित्र रहना चाहिए।

ज्ञानप्रभाव—भैया ! उत्तम सन्मार्ग प्रभावना तो यह है कि यथार्थ ज्ञान जरो निष्पक्ष अपने स्वरूपका और परके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान आये, ज्ञान अंवकारको हटाकर अर्थात् सम्यग्ज्ञानकी देशना अथवा उपायका प्रचार करके फिर यथायोग्य जिन शासनका महात्म्य फैलाये, यह सन्मार्ग प्रभावना है। अपने आपमें अपना सन्मार्ग बनाये यह वास्तविक सन्मार्ग प्रभावना है। वास्तविक बात सोचो तो सही और हम बुरे बने रहेंगे, विषय और पायोंमें लगे रहेंगे तो इसके फलमें मेरी गति होंगी क्या ? जिसके लिए अथवा जिसका लक्ष्य करके हम पाप करेंगे, अन्याय करेंगे वे कोई भी मेरे पापके उदयमें सहायी न हो सकेंगे। सहायी तो कोई भी नहीं हो सकता है। सब जीव अपने-अपने परिणामके कर्ता हैं और अपने ही परिणामोंके भोक्ता हैं। काहेका मोह लगाव ? मान लो आज आप जिस घरमें पैदा हुए न होते उस घरमें पैदा, किसी दूसरे गांवमें, दूसरे पर पैदा हुए होते तो क्या ऐसा हो नहीं सकता था ? समझ लो, तब मेरे लिए भिला हुआ समागम मेरेको कुछ नहीं है। मेरे लिए तो मेरे सन्मार्गका ही सहारा यथार्थ है।

आत्मरक्षाकी उक्षेत्रता—नीतिकारोंने कहा है कि अपने कुलका विनाश यदि अपने मुत्कके किसी पुरुषके कारण हो रहा है तो कुलकी रक्षाके लिए उस पुरुषका त्याग कर देना चाहिए। अपने ही कुलकी कुछ करतूतके कारण यदि गांव भरका अनर्थ हो रहा है तो चाहिए कि अपने उस कुटुम्बको भी छोड़ दे, गांवको बचावे। यदि एक गांवकी करतूतके कारण सारे देश पर संकट छाता है तो विवेकीका कर्तव्य है कि समस्त राष्ट्रकी रक्षाके लिए उस एक गांवका परित्याग कर दे और राष्ट्रके सम्बंध

से ही समझो याने सभी परसंसर्गसे यदि अपने आपके आत्माकी दुर्गति होती है, अरक्षा रहती है तो विवेकी को चाहिए कि उस राष्ट्रका भी परित्याग करदे और सबका परित्याग करके अपने आत्मतत्त्वका लगाव करे यह बात इस सन्मार्ग प्रभावनामें व्यनित होती है। अपने आपका सन्मार्ग प्रकट करें अपने लिए। दूसरोंका भी तब उपकार सम्भव है जब स्वयं अपने आपका कुछ उपकार करले। जो स्वयं समर्थ है वही दूसरोंके उपकारमें कारण बन सकता है।

सन्मार्गकी प्रयोग्यता— उत्कृष्ट सन्मार्ग तो सर्व आरम्भ परिग्रहोंका परित्याग करके ज्ञानानन्दमात्र अपने आपके विकासमें है। जहां रागद्वेष का अभाव हो और समता परिणाम प्रकट हो, पर यह नहीं किया जा सकता, तब अपने गृहस्थधर्मको योग्य रीतिसे निभायें यह भी सन्मार्ग है और सन्मार्गकी प्रभावना है। न गृह सम्पदा छोड़ी जा सके तो रहिए घर, किन्तु यदि सम्पदा बहुत है तो पहिले यह विचार करिये कि हमने या हमारे निकट पूर्वजोंने किसी पर अन्याय करके तो नहीं धन एकत्रित किया है। यदि विद्वित हो कि अमुक पर अन्याय करके यह धन कमाया गया है तो वहां पहिला सन्मार्ग तो यह है कि उसका जो कुछ धन है वह वापिस कर दें, उससे क्षमायाचना करें, उसे संतुष्ट करदें, यह है सन्मार्गकी प्रभावना व अपने धर्मका पालन। यह एक कर्त्त्याशार्थी पुरुषकी बात चल रही है। धन बहुत है तो उसकी रक्षा बनाये रहें, नवीन उपार्जन न करें। अपना जीवन गुजारना है भली प्रकार गुजार रहे हैं, करनेका काम तो अपनेमें अपने ज्ञानकी प्रभावना है। अपने आपका ज्ञान बनाएँ और अपनेको शुद्ध आनन्दसे तृप्त रखें जिससे इन्द्रियके विषयोंका परित्याग हो जाय।

आत्मरुचिकी आवश्यकता— भैया ! रुचि जगना चाहिए निज सहज ज्ञानस्वरूपकी हृष्टिके लिए कि मेरेको और कुछ नहीं चाहिए, केवल एक शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रह सके इसकी ही चाह है क्योंकि इस ही स्थितिमें वास्तविक आनन्द है और भलाई है। इस निजस्वरूपसे जहां चिंगे वहां सर्वत्र आकुलता ही आकुलता है। हम आप धन वैभवसे बड़े हुए लोगों को देखते हैं तो वे ऊपरसे बड़े सुखी नजर आते हैं, कितने मित्र हैं, कैसा ठाठ बाट है, साथमें सिपाही हैं, कैसा ठाठ है, कैसे सुखी नजर आते हैं पर यह सब ठाठ बाट तो संसारी है, मायामय चीज है। इससे शांति मिले ऐसा कोई नियम नहीं है। इसको तो बही जानता है जिस पर बीत रही है क्योंकि जहां परिग्रह का सम्बन्ध है वहां क्लेश ही क्लेश नजर आते हैं।

एक जगह लिखा है कि चाहे सूईके छेदमेंसे ऊँट निकल जाय, पर परिश्रहके रखनेसे शांति कभी हो ही नहीं सकती है। यदि अपने आपको अविच्छन्न निष्परिश्रह ज्ञानानन्दमात्र निरखो तो शांतिका उदय हो सकता है। बाह्य-पदार्थोंपर आकर्षण करने से तो शांति हो ही नहीं सकती। स्वरूप ही ऐसा है। तब क्या करें? विषयोंकी लालसा कम करें, और मन, वचन, काय व धन जो मिला है इन सबका सदुपयोग करें। दुःखी दीन गरीब ऐसे पुरुषोंके उपकारमें तन, मन, धन लगावे यह भी सन्मार्ग प्रभावना है।

उदार आशयमें लाभ ही लाभ— और भी देखो भैया! कितना ही आप परोपकार करें, त्याग करें, टोटेमें आप न रहेंगे, क्योंकि इस जीवके साथ परमाणु मात्र भी लगा नहीं है। यह तो अकेला ही है। शुद्ध कामके करनेसे, दया, दान, परोपकार, उदारता इन कामोंके करनेसे ज्ञान किरण ही मिलेगी निजस्वरूपका स्पर्श ही सम्भव है तब वहां शांति मिलेगी। जिन्हें यह मोही पुरुष समझता है कि मैं लाभ पा रहा हूँ वे तो सब हैं हानि की बातें और जिसे व्यामोही पुरुष जानता है दूसरे ज्ञानियोंके बारेमें कि देखो छोड़ दिया सब कुछ, अकेले रह रहे हैं, कैसा इनका दिमाग है? अरे वे बड़े लाभमें हैं। जो परको अपनाते हैं वे भी अब ले ही मरकर जायेंगे और जो त्यागवृत्तिसे रहते हैं वे भी अकेले ही मरकर जायेंगे पर यह उदारता अथवा त्यागवृत्ति वाला ज्ञानी पुरुष अपने संग हुँड़ लेकर जायेगा। क्या? ज्ञान व आनन्दका संस्कार। ये सब पदार्थ पुण्योदयवश मिल गए हैं और ये बिल्लूँ भी जायेंगे। कोई भी पदार्थ अधूरा नहीं है, सब पूरेके पूरे ही यहांसे जायेंगे। ऐसे अपने आपमें रत्नत्रय की उपासनासे सन्मार्गकी प्रभावना करना सो सन्मार्ग प्रभावना है।

सन्मार्गप्रभावनाका परिणाम— सोटा काम न हो, सोटा बनिज व्यापार न हो, निंदा योग्य वचन न बोले, तीव्र लोभ प्रवृत्ति न हो, व्यभिचार, झूठ, चोरी इन पापोंसे दूर रहे, कंजूसीका परिणाम न रखें, ऐसी सदाचारकी बातें चलें तो समझो कि सन्मार्गकी प्रभावना कर रहे हैं। यों सन्मार्गकी प्रभावना रखने वाला अन्तरात्मा पुरुष दर्शन विशुद्धिके ग्रताप से, इस विश्वके उद्घारके आशयसे ऐसी पुण्य प्रकृतिका बंध करता है कि यह निकटकालमें स्वयं तीर्थकर महापुरुष बनेगा। सो भी भैया! इसकी क्या वाढ़ा करना? यह होता है ज्ञानियोंके स्वयं। अपने आपकी निर्दोष ज्ञानकी दृष्टिसे ये सब वैभव होते हैं। उस निर्दोष ज्ञानका अवलोकन और उसमें रमण करनेका यत्न करना चाहिए।

१६—प्रवचन वत्सलत्व

प्रवचनवत्सलत्व— तीर्थकर प्रकृतिकी बंध करने वाली भावनाओंमें आज यह अंतिम भावना आ रही है। इसका नाम है प्रवचनवत्सलत्व। प्रवचनका अर्थ है देव गुरु और धर्म। इनमें प्रीति भावका होना सो प्रवचन-वत्सलत्व है। जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अभेद एकता हो चुकी है ऐसे ज्ञानपुञ्ज देवमें प्रीति उत्पन्न होना और जो इस स्थितिके उत्सुक हैं तथा जिनकी दृष्टि इस शुद्ध परिणमनके साधन-भूत शुद्ध सहज स्वरूपकी ओर रहा करती है ऐसे साधनोंकी भावना करना यह है प्रवचनवत्सलत्व।

यथापद विविव प्रवचनवात्सल्य— जो बाह्याभ्यन्तर समस्त प्रकार के परिग्रहोंसे विरक्त है, रागद्वेषसे परे हैं, एक समता की ही जिनके उपासना रहा करती है, २२ परिसहोंके सहन करने वाले हैं, धीर गम्भीर और ढदार हैं, ऐसे साधु परमेष्ठीमें प्रीति करना शुरुविषयक प्रवचन वत्सलत्व है। जो साधुकी ही तरह उनका क्लनुकरण करनेके अभिलाषी हैं किन्तु एक वस्त्र कोपीनमात्र जिसका परिग्रह है, शेष सर्वपरिग्रहोंका त्याग है, ऐसे ज्ञान भावके हृचिया उत्कृष्ट श्रावकमें वत्सल भाव जगना सो प्रवचन-वत्सलत्व है। इसी प्रकार स्त्रियोंमें सर्वोत्कृष्ट पद अर्थिकाका है। आर्थिकाओंके गुणोंमें वात्सल्यभाव होना, धर्मनुराग सम्यक्त्वभावकी प्रतीति होना सो प्रवचनवत्सलत्व है। और फिर सधर्मजिनोंमें, यथायोग्य श्रावक-जनोंमें, असंयत सम्यग्दृष्टियोंमें एक सर्वमिताके कारण वात्सल्य भाव होना सो प्रवचनवात्सल्य है।

अज्ञानीका वात्सल्य और उसका हितार्थ कर्तव्य— यह व्यामोही जीव कुटुम्बियोंमें, वैभव सम्पदामें, अपने कशायोंमें प्रीति रखनेमें, यश नाम ख्यातिके चाहनेमें और भी अनेक-अनेक बातें हैं जिनमें प्रीति बढ़ाये रहते हैं। उन वैभव सम्पदावाँओंकी प्रीतिसे इस जीवको क्या लाभ मिलता है कुछ तो बतावो। न तो वर्तमानमें लाभ है और न भविष्यमें लाभ है। तभी तो गृहस्थजनोंमें यह परम्परा थी और यही उचित है कि जिनके धन सम्पदा समागम यथोचित है उन्हें चाहिए कि वे नवीन धनका उपार्जन न करें और जो धनोपार्जन भी करना पड़ता है वह यथासमय पर इस वैभवको भाग्यका साथी जानकर धनोपार्जन करें। एक कर्तव्य निभाना पड़ रहा है ऐसा समझकर धनोपार्जन करें। बाकी अपना सरा समय सत्संगतिमें, स्वाध्याय लाभमें बिताएं। जिस प्रकारसे अपने आपमें शांति

संतोष और स्वभावकी दृष्टि बने, सहज ऐसे कार्यमें लगना अपना कर्तव्य है यहांके जो दिखने वाले मायामय पदार्थ हैं, मायामय शरीर हैं वे सब इस संसारमें परिभ्रमण कर रहे हैं, वे सब अज्ञानबश परेशान हैं। किस का मन रखनेके लिए, किसको प्रसन्न करनेके लिए, किनमें अपनी बात प्रसिद्ध करनेके लिए इस आत्मस्वभावसे च्युन होनेका श्रम किया जा रहा है ? ज्ञानी संतोंकी तरह जितना अधिकसे अधिक धर्ममें वात्सल्य उपजे, उतना ही भला है ।

प्रवचन : वात्सल्यमें मूल आश्रय— धर्म तो बास्तवमें आत्मस्वभाव का आश्रय करना है । परम निश्चयसे तो आत्मस्वभाव ही धर्म है । वह स्वभाव शाश्वत अंतःप्रकाशमान है, वह विपरिणाम नहीं हुआ करता है । ऐसे अचल धर्मकी दृष्टि करतेको निश्चयसे धर्मपालन कहा करते हैं और फिर इस निश्चयधर्मकी सांवनाके हम योग्य बने रहे इस पात्रताको रखने में जितने व्यवहार कार्य हैं वे भी धर्म कहलाते हैं । अपने आवश्यक कार्यों का करना, गुरुसेवा आदिक धर्मोपयोग करना, समारोहमें रहना, यह सब भी धर्मपालन कहलाता है । धर्ममें भी वात्सल्य जगना सो प्रवचन वत्सलत्व है ।

धर्मकी धुनके उदाहरण— पुराणोंमें सुना होगा अकलंक और निकलंकका उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है । ये दोनों भाई बड़े ही बुद्धिमान थे । अकलंक देवको एक ही बार सुन लेनेसे पाठ याद हो जाता था और निकलंक देवको दो बार सुनकर कोई भी पाठ हो याद हो जाता था । उन दोनोंकी रुचि थी कि हम सभी प्रकारके धर्मोंका, सिद्धान्तोंका ज्ञान करें । सो उन्होंने कई जगह अध्ययन किया । एक बार बुद्ध पाठशालामें भी अध्ययन किया । ओह कितनी प्रवर बुद्धि थी ? धर्मके लिए ही जिसने अपना जीवन समझा है उसकी कैसी फकीराना प्रवृत्ति होती है, जरा देखते जाओ । बड़ों-बड़ोंका भी कुछ रहा तो नहीं, पर उनकी वृत्ति धर्मके लिए रही तो आज भी हम उनका गुणगान करते हैं । कोई हमारा गुणगान करे इस दृष्टिसे तो उनको वृत्ति नहीं होती है, किन्तु जब ज्ञान हुआ, वैराग्य हुआ तो मन ही नहीं लग सकता अनात्म प्रबलगमें और राग भाव का उदय चल रहा है तो वह मनको कहाँ लगायेगा ? वह रागादिक परिणामोंके प्रकरणमें ही तो लगायेगा । तो वे दोनों बड़के पाठशालामें पढ़ते थे । पढ़ते-पढ़ते काफी समय गुजर गया । एक दिन गुरु स्याद्वादका पाठ पढ़ा रहे थे खण्डनात्मक ढंगसे तो किसी नी तत्त्वका खण्डन करनेके लिए पहिले पूर्वपक्ष रखा जाता है । स्याद्वादके पूर्वपक्षमें जो बात वहाँ आई

तो गुरुजी कुछ अटक गये। समझमें न आया और कहा कि हम इसे कल कहेंगे। पढ़ाई बद हो गयी। अब समय देखकर जब कोई न था तो अकलंक देवने इस प्रन्थमें एक ही शब्दकी कभी बेसी थी, जिसके कारण अर्थ नहीं लग रहा था तो उसे सुधार दिया।

प्रबचनवत्सलोंका प्रबचन प्रेम और साहस— दूसरे दिन गुरुने देखा, ओह ! स्याद्वादमें इस अपूर्वपक्षको ऐसा सुधार सकने वाला इन विद्यार्थियोंमें से कौन है ? निश्चय ही वह स्याद्वादी होगा, गुणी, चतुर होगा। उस समय धर्मके नाम पर इतना कड़ा शासन चल रहा था कि अपनेको दूसरे धर्म वाले कहकर मुश्किलसे रह पाते थे। ओह परीक्षा करें, देवें के नसा ऐसा विद्यार्थी है जो मेरी कल्पनासे प्रतिकूल है ? एक उपाय ढ्यानमें आ गया। एक मूर्ति रखी और सब लड़कोंसे कहा कि इस मूर्तिको लांघते जाओ। जो इस मूर्तिको न लांघेगा समझेंगे कि वही जैन है। ओह ! उस समय बड़ी कठिन समस्या थी अकलंक और निकलंक देव को। ये दोनों ये ब्राह्मण पुत्र, बहुत दिग्गज विद्वान् हुए। सोचनेके बाद दोनोंने यह तय किया कि नहीं लांघते हैं इस मूर्तिको तो सपष्ट उनके ही विरोधी सावित होते हैं, और ऐसे समयमें जिस उद्देश्यको लेकर अपना जीवन बनाया है, उसमें सफल ही नहीं हो सकते। उद्देश्य क्या था कि जो गथार्थ ज्ञान है, वस्तुका स्वरूप है वह जगत्के सामने आये, यह उनकी धर्म वात्सल्यता। कितना उनका त्याग था ? हम आप लोग कहां ऐसा त्याग कर सकते हैं। यहां तो जरा-जरासी बातोंमें अनुदारता अपना धर जमाया करती है। वे दोनों एक निर्णय कर पाये कि एक-एक धागा लें और मूर्ति पर डालकर और यह मानकर कि अब यह मूर्ति ग्रन्थ सहित हो गयी, परिग्रह सहित हो गयी, भावोंकी ही तो बात है। दोनोंने यह तय किया और धागा डालकर मूर्ति भी लांघ गये। अब ऐसा करनेमें उनके दिलसे पूछो जो ऐसा करनेको भी तैयार हो सकते हैं धर्मप्रेमके स्वातिर।

प्रबचन वात्सल्यमें संकटोंके मुकाबिलेका साहस— अब बादमें दूसरी परीक्षा की। क्या ? कि रात्रिके समय चार बजे धंटी बजा करती थी और तब सब विद्यार्थी प्रार्थना किया करते थे। गुरुने एक दिन सोचा कि आज ४ बजे नहीं किन्तु दो ही बजे खूब थालियां नीचे पटकें व ठोंके जिससे कि अचानक ही सब विद्यार्थी जग जायें, और अचानक जगने पर, भयकी बात सामने आने पर जिस विद्यार्थीके मनमें जो देव बसा होगा वह उसका उच्चारण करने लगेगा। तो दस पांच कार्यकर्ता इस बातको निरखते रहे कि कौन विद्यार्थी किस देवका नामोच्चारण करता है ? जब थालियां खूब

पटकने लगे तो सब विद्यार्थी घबड़ाकर उठ पड़े और अपने-अपने इष्टदेव का नाम लेने लगे। उस समय अकलंक निकलंकों देखा तो वे दोनों खानों अरिहंताणं खानों अरिहंताणं पढ़ रहे थे। वे दोनों पकड़ लिए गए और जेलमें बंद कर दिए गए। उसका निर्णय किया गया था कि इन दोनोंका प्राण घात करो, इन्हें फांसी पर लटकाओ। अब दोनों ही चिंतातुर हुए। रात्रिके समय पड़े हुए हैं, सोच रहे हैं कि हमें फांसीका डर नहीं। क्या होगा? यह मैं जो कुछ हूं वह तो शाश्वत हूं। यहां न रहा और कहीं चला गया, पर अभी कुछ अपने लिए धर्मसाधना शेष थी और ज्ञानापयोग कर के विश्वका भी उपकार करना शेष था। ऐसा वे चिंतामें पड़े हुए थे। तब जिनभक्ता देवीने सहाय की। जिससे अचानक ही सब पहरेदार सो गए, जेलके किवाड़ खुल गए और एक संकेत दिया कि अब निकल जाओ। वे जे तसे निकल कर चले जा रहे थे।

प्रवचन वात्सल्यमें सर्वस्व न्यौछावर— सुबह ६-१० बजे बड़ी चर्चा हुई कि वे दोनों तो जेलसे निकल ही भागे। राजा ने चारों और नंगी तलवार लेकर अनेक घुड़सवार भेजे। निकलंकने अकलंकसे कहा कि देखो भाई अब प्राण नहीं रह सकते हैं, हम तो दो बारमें पाठ याद करते हैं, आपकी इतनी विशिष्ट बुद्धि है कि एक बारमें ही पाठ याद करते हैं। तो आप कहीं छिप जाइये। अकलंक बोला भाई यह कैसे होगा, हम क्यों छिप जावें? जब बहुत ही नजदीक आये तो निकलंक अकलंकके पैरोंमें पड़कर गिड़गिड़ाकर कहता है कि क्यों नहीं छिप जाते हो, उस समय एक एक दूसरेको मना रहा हो कि मुझे मर जाने दो आप मुझपर दया करें, आप बच जाइये, उसमें कितनी बड़ी धर्मकी वात्सल्यता कही जाय? जिसने धर्म की प्रभावनाके लिए जीवन भी लगा दिया हो उससे बढ़कर और उदारता क्या हो सकती है और जो जीवनमें अपने प्यारे बन्धुको धर्मके खातिर मरता हुआ देखना सहन करले, उसकी उदारताको भी कौन कह सकता है? भया! जान लो कि धर्मवत्सलतामें अपने आपको कितना न्यौछावर किया जा सकता है?

परमार्थ कहणा— यह प्रवचनवात्सल्य जिनज्ञानी अन्तरात्माओंके प्रकट होता है तब विश्वके जीवोंपर यह दृष्टि जगती है औह सुखका मार्ग आनन्दका मार्ग, शांतिका मार्ग बिलकुल निकट ही तो है। स्वयं ही तो यह आनन्दका भण्डार है किन्तु यह एक अपने आपको न देख सकनेके कारण कितना महान् अन्तर आ गया है, कितनी विडम्बना बन गयी है कि जीव को कुयोनियोंमें इस प्रकार परिश्रमण करना पड़ता है। थोड़ा ही तो

उपाय है। न करे यह वरका मोह, अपना जो यथार्थ सहजस्वरूप है उसे ही पहिचान जाय, इसमें कितना श्रम है। कोई कमाई नहीं करना है, यह काम कितना सुगम है और परको प्रसन्न करनेका पैसा कमाने का, वैभव जोड़ने का, ये सारे काम कितने कठिन हैं, पर यह व्यामोही जीव मानता है कि मैं असुक पदार्थको भोगूँ, असुकको प्रसन्न रखूँ। इस कुबुद्धिके कारण मुख्य जीव इस संसारमें परिभ्रमण कर रहे हैं। यह जीव न बाहर में उपयोग लगाये, अपने आपको पहिचान ले तो इसके सारे क्लेश मिट सकते हैं।

पीड़ीका आधार स्नेह—शांति संतोष क्या बाह्यपदार्थोंके स्नेहसे कभी हो सकता है? नहीं हो सकता है। स्नेह तो पेलनेके काम आता है। स्नेह मायने तैल। तैल सरसोंमें होता है। तैलके कारण ही सरसों कोल्हू में पेले जाते हैं। कोई भूसी या बालूको भी कोल्हूमें पेलता है क्या? जिसमें तैल हो वही पिला करता है अर्थात् जिसमें स्नेह हो वही पुरुष पिलता रहता है, दुःखी होता रहता है। विषादकी बात तो यह है कि जिस अपराधके कारण दुःख होता है उस अपराधको मेटनेके उपायमें उसी अपराधको कर रहे हैं तो जैसे कपड़ेमें खूनका लगा हुआ दाग हो और उस धोनेके लिए कोई खूनसे ही धोए तो क्या दाग छूट जायेगा? नहीं छूट सकता। इसी प्रकार रागद्वेषसे जो वेदनाएँ उत्पन्न होती हैं उन वेदनाओं को शांत करने के लिए राग और द्वेषका ही संसारी जन प्रयोग करते हैं तो इस प्रयोगसे, रागद्वेषसे क्या राग मिट जायेगा अथवा बढ़ जायेगा? ये विश्वके प्राणी इतना क्यों नहीं कर लेते हैं कि भ्रमवश थोड़ीसी हैरानी जो हो रही है उसे दूर करदें।

अज्ञानी और ज्ञानियोंकी विलक्षण हैरानी—देखो भैया! यहां ज्ञानी भी विश्वकरुणावश थोड़े हैरान हो रहे हैं। करुणामें हैरान गति तो हुआ ही करती है। करुणा कहो अथवा वेदना कहो। करुणा भी एक वेदना है, और करुणा होने पर जो उपाय किया जाता है वह अपनी वेदना शांत करनेके लिए किया जाता है। ये ज्ञानी महापुरुष विश्वके जीवोंकी वृत्ति देखकर थोड़ा विषाद कर रहे हैं। क्या करें, एक वेदना हो दिए हैं। देखो तो सीधीसी बात सुगम स्वाधीन निजकी बात जो स्वयं है, निकट भी क्या कहें, वही यहणमें नहीं आ रहा है, और स्वयं प्रहणमें नहीं आता है। इसके फलमें यह कितनी दूर परपदार्थोंमें बह गया है। यह आत्मदृष्टि पाये और आनन्दमग्न हो, ऐसी एक परमकरुणा जगती है। अज्ञानी और ज्ञानी अपनी-अपनी कैसी विलक्षण हैरानी लिये रहते हैं।

निर्वाचिक ज्ञानयोगवश परमार्थ कहणासे तीर्थकर प्रकृतिका बन्ध—
कहणाके विशुद्ध भावके प्रतापसे यह अंतरात्मा पुरुष तीर्थकर प्रकृतिका
बन्ध करता है। तीर्थकर प्रकृति बँधे ऐसी भावना ज्ञानियोंकी नहीं होती है,
पर ऐसा कार्य बन पड़ता है कि न चाहते हुए भी तीर्थकर प्रकृतिका बंध
होगा। क्या कोई पुरुष ऐसा चिंतन करेगा कि मैं तीर्थकर बन जाऊँ ?
यदि कोई मैं तीर्थकर बनूँ इस ध्येयसे पूजा करे, ज्ञानप्रचार करे, कुर्ल
भी करे, अपना सर्वस्व भी त्याग दे, हाँलाकि ये अज्ञानीजन सर्वस्व त्याग
नहीं सकते क्योंकि अन्तरमें तीर्थकरके वैभवकी बाढ़का पड़ी हुई है। ज्ञान
लो, जिसे दुनियावी लोग सर्वस्व माचते हैं उसे भी त्याग दे तो भी क्या
तीर्थकर प्रकृति बंध जायेगी ? अरे जो योग्य परिणाम करेगा उसके ही
तीर्थकर प्रकृति बंधेगी। बातें करनेसे गप्पे करनेसे तीर्थकर प्रकृतिका बँध
नहीं होता।

स्वपुरुषार्थबलसे कार्यसिद्धिमम्पन्नता— एक बाबू साहब बस्बई जा
रहे थे। पड़ोसकी स्त्रियां आर्यों और कहने लगीं कि बाबू जी हमारे मुन्ना
को खेलनेका हवाई जहाज लेते आना, कोई सेठानी कहती कि हमारे मुन्ना
को खेलनेकी रेलगाड़ी ले आना। इसी तरहसे दसों पड़ोसकी सेठानियाँ
अपनी-अपनी बात कह गयीं। बादमें एक बुढ़िया २ पैसे लेकर आर्यों और
बोली, बाबू जी यह लो दो पैसे हमारे मुन्नाको खेलनेके लिए मिट्टीका
खिलौना ले आना। तो बाबू जी कहते हैं कि बुढ़िया मां मुन्ना तेरा ही
खिलौना खेलेगा, और तो सभी सेठानियां गप्पे मारने वाली थीं। उनके
मुन्ना खिलौना नहीं खेल सकते। तो सभभौं कि जिसका परिणाम निर्मल
है, अपने आपके प्रयोगमें अभ्यासमें निरत है, ऐसी विशुद्ध धून है जिस-
की वह पुरुष फिर अशांत नहीं बन सकता है। हमें चाहिए कि संसारकी
समस्त वस्तुओंको असार जानकर, उन्हें धूलवत् समझकर उनसे ममत्व
भाव न रखें। जब शरीर भी मेरा साथी नहीं है तो अन्यकी क्या कथनी
करें ? अपना जो निज तत्त्व है, ज्ञानोपयोग, ज्ञानभाव, स्वभाव है उसकी
हृषि, आश्रय, अध्ययन करें तो इस आत्मपुरुषार्थके बलसे हम संसारके
समस्त संकटोंसे मुक्त हो सकेंगे। ये १६ भावनाएँ तीर्थकर प्रकृतिका बंध
करने वाली क्या-क्या हैं उन्हें जानकर और उस योग्य निश्छल होदृढ़
अपने परिणाम बनायें। अपने इस सम्यक्त्व ज्ञान और आचरणकी वृद्धि
से ही ये समस्त संकट टल जायेंगे।

* घोडशभावना प्रवचन द्वितीय भाग समाप्त *

जैनसाहित्य प्रेस, सदर मेरठसे मुद्रित